

पार्वनाथ विद्याश्रम लघु प्रकाशन

: ४ :

# जैन साहित्य के विविध आयाम ( प्रथम खण्ड )

सम्पादक

डॉ० सागरमल जैन



सच्चं लोगम्मि सारभूयं

प्रकाशक

पार्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

आई० टी० आई० रोड, वाराणसी-५

सन् १९८१ ]

[ मूल्य रु० ५-००

## प्रस्तुत ग्रन्थ में

१. जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य—एक तुलनात्मक अध्ययन  
—श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री १
२. प्राचीन भारतीय बाङ्गमय में पार्श्वचरित  
—डा० जयकुमार जैन २९
३. शम्बूक आख्यान ( जैन तथा जैनेतर सामग्री का  
तुलनात्मक अध्ययन )  
—श्री विमलचन्द्र शुक्ल ४६
४. आचार्य शाकटायन ( पाल्यकीर्ति ) और पाणिनि  
—श्री रामकृष्ण पुरोहित ५२
५. मुनिश्री देपाल : जीवन और कृतित्व  
—डा० सनत्कुमार रंगाटिया ६२
६. मेरुतुंग के जैन मेघदूत का एक समीक्षात्मक अध्ययन  
—श्री रविशंकर मिश्र ७०
७. जैनाचार्यों द्वारा आयुर्वेद साहित्य निर्माण में योगदान  
—आचार्य राजकुमार जैन ७८

मुद्रक : एजूकेशनल प्रिंटर्स, गोला दीनानाथ, वाराणसी-२२१००१

# बौद्ध और वैदिक साहित्य-एक तुलनात्मक अध्ययन

श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री

भारतीय संस्कृति विश्व का एक महान् संस्कृति है। यह संस्कृति सरिता की सरस धारा की तरह सदा जन-जीवन में प्रवाहित होती रही है। इस संस्कृति का चिन्तन जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीन धाराओं से प्रभावित रहा है। यहाँ की संस्कृति और सभ्यता का रमणीय कल्प-वृक्ष इन तीनों परम्पराओं के आधार पर ही सदा फलता-फूलता रहा है। इन तीनों ही परम्पराओं में अत्यधिक सन्निकटता न भी रही हो तथापि अत्यन्त दूरी भी नहीं थी। तीनों ही परम्पराओं के साधकों ने साधना कर जो गहन अनुभूतियाँ प्राप्त कीं, उनमें अनेक अनुभूतियाँ समान थीं और अनेक अनुभूतियाँ असमान थीं। कुछ अनुभूतियों का परस्पर विनिमय भी हुआ। एक-दूसरे के चिन्तन पर एक-दूसरे का प्रतिबिम्ब गिरना स्वाभाविक था किन्तु कौन किसका कितना ऋणी है यह कहना बहुत ही कठिन है। सत्य की जो सहज अभिव्यक्ति सभी में है उसे ही हम यहाँ पर तुलनात्मक अध्ययन की अभिधा प्रदान कर रहे हैं। सत्य एक है, अनन्त है, उसकी तुलना किसी के साथ नहीं हो सकती तथापि अनुभूति की अभिव्यक्ति जिन शब्दों के माध्यम से हुई है, उन शब्दों और अर्थ में जो साम्य है उसकी हम यहाँ पर तुलना कर रहे हैं जिससे यह परिज्ञात हो सके कि लोग सम्प्रदायवाद, पंथवाद के नाम पर जो रागद्वेष की अभिवृद्धि कर भेद-भाव की दीवार खड़ी करना चाहते हैं वह कहाँ तक उचित है। जो लोग धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं करते हैं उनका दृष्टिकोण बहुत ही संकीर्ण और दुराग्रहपूर्ण बन जाता है। दुराग्रह और संकीर्ण-दृष्टि की परिसमाप्ति हेतु धार्मिक साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन बहुत ही आवश्यक है।

गंभीर अध्ययन व चिन्तन के अभाव में कुछ विज्ञों ने जैन धर्म को वैदिक धर्म की शाखा माना किन्तु पाश्चात्य विद्वान् डा० हर्मन जेकोबी

प्रभृति अनेक मूर्धन्य मनीषी उस अभिमत का निरसन कर चुके हैं। प्राप्त सामग्री के आधार से हम भी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृति से उद्भूत नहीं है। यह प्रारम्भ से ही एक स्वतन्त्र धारा रही है। हमारी दृष्टि से वैदिक और श्रमण धाराओं में जन्य-जनक के पौर्वापर्य की अन्वेषणा करने की अपेक्षा उनके स्वतन्त्र अस्तित्व और विकास की अन्वेषणा करना अधिक लाभप्रद है।

वैदिक संस्कृति का साहित्य बहुत ही विशाल है। वेद, उपनिषद्, महाभारत, श्रीमद्भगवद्गीता, भागवत, मनुस्मृति आदि के रूप में शताधिक ग्रन्थ हैं और हजारों विषयों पर चर्चाएँ की गई हैं। भाषा की दृष्टि से यह सम्पूर्ण साहित्य संस्कृत में निर्मित है। जैन आगम साहित्य में आये हुए एक-एक विषय या गाथाओं की तुलना यदि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के साथ की जाय तो एक विराट्काय ग्रन्थ तैयार हो सकता है, पर यहाँ हम बहुत ही संक्षेप में कुछ प्रमुख बातों पर ही चिन्तन करेंगे।

यह सत्य है कि बौद्ध और जैन संस्कृति, ये दोनों ही श्रमण संस्कृति की ही धाराएँ हैं। तथागत बुद्ध, बौद्ध संस्कृति के आद्य संस्थापक थे तो जैन संस्कृति के आद्य संस्थापक भगवान् ऋषभदेव थे जो जैन दृष्टि से प्रथम तीर्थंकर थे। भगवान् महावीर उन्हीं तीर्थंकरों की परम्परा में चौबीसवें तीर्थंकर थे। तथागत बुद्ध और तीर्थंकर महावीर ये दोनों एक ही समय में उत्पन्न हुए और दोनों का प्रचार स्थल बिहार रहा। दोनों मानवतावादी धर्म थे। दोनों ने ही जातिवाद को महत्त्व न देकर आंतरिक विशुद्धि पर बल दिया। भगवान् महावीर के पावन-प्रवचन गणपिटक (जैन आगम) के रूप में विश्रुत हैं तो बुद्ध के प्रवचनों का संकलन त्रिपिटक (बौद्धागम) के रूप में प्रसिद्ध है। दोनों ही परम्पराओं में शास्त्र के अर्थ में “पिटक” शब्द व्यवहृत हुआ है। वह ज्ञान-मंजूषा गणि अर्थात् आचार्यों के लिए थी। इसीलिए वह गणपिटक के नाम से प्रसिद्ध हुई। यद्यपि “गणि” शब्द जैन परम्परा में अनेक स्थलों पर व्यवहृत हुआ है तो बौद्ध परम्परा में संयुक्तनिकाय, दीघनिकाय, सुत्तनिकाय आदि में भी उसका प्रयोग प्राप्त होता है।

दोनों ही परम्पराओं का जब हम तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करते हैं तो स्पष्ट परिज्ञात होता है कि दोनों ही परम्पराओं में विषय, शब्दों, उक्तियों एवं कथानकों की दृष्टि से अत्यधिक साम्य है। इस साम्य का

मूल आधार यह हो सकता है कि कभी ये दोनों परम्पराएँ एक रही हों और उन दिनों का मूल स्रोत एक ही स्थल से प्रवाहित हुआ हो। आगम और त्रिपिटक साहित्य के एक-एक विषय को लेकर यदि तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाए तो अनेक नये तथ्य आसानी से उजागर हो सकते हैं, किन्तु विस्तार-भय से हम यहाँ संक्षेप में ही कुछ प्रमुख बातों पर चिन्तन करेंगे। शेष विषयों पर कभी अवकाश के क्षणों में चिन्तन किया जायगा।

जहाँ तक आगम और त्रिपिटक साहित्य का प्रश्न है वहाँ तक दोनों ही परम्पराएँ जन-साधारण की भाषा को अपनाती रही हैं। त्रिपिटक साहित्य की भाषा पालि रही है तो जैन आगमों की भाषा अर्धमागधी प्राकृत रही है। दोनों ही महापुरुषों ने जन-जन के कल्याणार्थ उपदेश प्रदान किये।

ब्राह्मण दार्शनिक मीमांसकों ने वेद को सनातन मानकर उसे अपौरुषेय कहा है। नैयायिक-वैशेषिक आदि दार्शनिक उसे ईश्वर प्रणीत कहते हैं। दोनों का मन्तव्य है कि वेद की रचना का समय अज्ञात है। इसके विपरीत बौद्ध त्रिपिटक और जैन गणपिटक पौरुषेय हैं। ये निराकार निरंजन ईश्वर द्वारा प्रणीत नहीं हैं और इनकी रचना के समय का भी स्पष्ट ज्ञान है।

जैन साधना पद्धति का अंतिम लक्ष्य निर्वाण है अतः निर्वाण को दृष्टि से ही उसमें प्रत्येक वस्तु पर चिन्तन किया गया है। जबकि वैदिक परम्परा का मुख्य लक्ष्य स्वर्ग प्राप्ति था, उसी को संलक्ष्य में रखकर वेदों में विविध कर्मकाण्डों की योजना की गई है। ऋग्वेद के प्रारम्भ में धनप्राप्ति की दृष्टि से अग्नि की स्तुति की गई है जब कि आचारांग के प्रथम वाक्य में ही "मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है" इस पर चिन्तन किया गया है। सूत्र-कृताङ्ग के प्रारम्भ में भी बन्ध और मोक्ष की चर्चा की गई है। वहाँ पर स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि परिग्रह ही बन्धन है। जितना साधक समत्व का परित्याग कर समत्व की साधना करेगा उतना ही वह निर्वाण की ओर कदम बढ़ायेगा। लक्ष्य की भिन्नता के कारण वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में स्तुतियों की अधिकता और आध्यात्मिक चिन्तन की अल्पता है। उपनिषद् साहित्य में आध्यात्मिक चिन्तन उपलब्ध होता है पर उसमें, आत्म-चिन्तन के मार्ग का

प्रतिपादन नहीं हुआ है। साधना के अमर राही की दैनिक जीवनचर्या कैसी होनी चाहिए? तन, मन और वचन की प्रवृत्ति को किस प्रकार आध्यात्मिक साधना की ओर मोड़ना चाहिए? यह स्पष्ट रूप से नहीं बताया गया है। उपनिषदों में ब्रह्मवार्ता तो आई है पर ब्रह्मचर्य का पालन कैसे करना चाहिए? उसके लिए साधक के जीवन में किस प्रकार की योग्यता होनी चाहिए? संयम के विधि-विधान, त्याग और तप का स्पष्ट निर्देश नहीं है जैसा कि आचारांग आदि जैन आगमों में हुआ है।

आचारांग में आत्मा के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि सम्पूर्ण लोक में किसी के द्वारा भी आत्मा का छेदन नहीं होता, भेदन नहीं होता, दहन नहीं होता और न हनन ही होता है<sup>१</sup> इसी की प्रतिध्वनि सुबालोपनिषद्<sup>२</sup> और गीता<sup>३</sup> में भी मिलती है।

आचारांग में आत्मा के ही सम्बन्ध में कहा गया है कि जिसका आदि और अन्त नहीं है उसका मध्य कैसे हो सकता है।<sup>४</sup> गौडपाद-कारिका में भी यही बात अन्य शब्दों में दुहराई गई है।<sup>५</sup>

आचारांग में जन्ममरणातीत, नित्य, मुक्त आत्मा का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए लिखा है—“उस दशा का वर्णन करने से सारे शब्द निवृत्त हो जाते हैं—समाप्त हो जाते हैं। वहाँ तर्क की पहुँच नहीं और न बुद्धि उसे ग्रहण कर पाती है। कर्म-मल रहित केवल चैतन्य ही उस दशा का ज्ञाता है।”

मुक्त आत्मा न दीर्घ है, न लघ्व, न वृत्त-गोल। वह न त्रिकोण है, न चौरस, न मण्डलाकार है। वह न कृष्ण है, न नील, न लाल, न पीला और न शुक्ल ही। वह न सुगन्धिवाला है न दुर्गन्धिवाला है। वह न तिक्त है, न कडुवा, न कषैला, न खट्टा और न मधुर। वह न कर्कश है, न मृदु, वह न भारी है, न हल्का। वह न शीत है, न उष्ण, वह न स्निग्ध है, न रूक्ष। वह न शरीरधारी है, न पुनर्जन्मा है, न आसक्त। वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक।<sup>६</sup>

वह ज्ञाता है, वह परिज्ञाता है। उसके लिए कोई उपमा नहीं, वह अरूपी सत्ता है।

वह अपद है। वचन अगोचर के लिए कोई पदवाचक शब्द नहीं। वह शब्द-रूप नहीं, रूप-रूप नहीं, गन्ध-रूप नहीं, रस-रूप नहीं, स्पर्श-रूप नहीं। वह ऐसा कुछ भी नहीं है, ऐसा मैं कहता हूँ।<sup>७</sup>

यही बात केनोपनिषद्,<sup>७</sup> कठोपनिषद्,<sup>८</sup> बृहदारण्यक,<sup>९</sup> माण्डूक्योपनिषद्,<sup>१०</sup> तैत्तिरोयोपनिषद्,<sup>११</sup> और ब्रह्मविद्योपनिषद्,<sup>१२</sup> में भी प्रति-  
 ध्वनित हुई है।

आचारांग<sup>१३</sup> में ज्ञानियों के शरीर का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि ज्ञानियों के बाहु कृश होते हैं, उनका मांस और रक्त पतला एवं न्यून होता है। यही बात अन्य शब्दों में नारद परिव्राजकोपनिषद्,<sup>१४</sup> एवं रंन्यासोपनिषद्,<sup>१५</sup> में भी कही गई है।

पाश्चात्य विचारक शूर्तिग ने अपने सम्पादित आचारांग में आचारांग के वाक्यों की तुलना धम्मपद और सुत्तनिपात से की है। मुनि सन्त-बालजी ने आचारांग की तुलना श्रीमद्गीता के साथ ही की है। विशेष जिज्ञासुओं को वे ग्रन्थ देखने चाहिए।

सूत्रकृतांग की तुलना दीघनिकाय व अन्य ग्रंथों से की जा सकती है। स्थानांग और समवायांग सूत्र की रचनाशैली अंगुत्तरनिकाय और पुगल-पञ्चति की शैली से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। स्थानांग में कहा गया है कि छह स्थान से आत्मा उन्मत्त होती है। अरिहन्त का अवर्णवाद करने से, आचार्य, उपाध्याय का अवर्णवाद करने से, चतुर्विध संव का अवर्णवाद करने से, यक्ष के आवेश से, मोहनीय कर्म के उदय से<sup>१६</sup> तो बुद्ध ने भी अंगुत्तर निकाय में कहा है कि चार अचिन्तनीय की चिन्ता करने से मानव उन्मादी हो जाता है—(१) तथागत बुद्ध भगवान् के ज्ञान का विषय, (२) ध्यानी के ध्यान का विषय, (३) कर्मविपाक और (४) लोकचिन्ता।<sup>१७</sup>

स्थानांग में जिन कारणों से आत्मा के साथ बंध होता है, उन्हें आस्रव<sup>१८</sup> कहा है। मिथ्यात्व, अब्रत, प्रमाद, कषाय और योग—आस्रव कहे गए हैं। बौद्धग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय<sup>१९</sup> में आस्रव का मूल अविद्या को बताया है। अविद्या का निरोध होने से आस्रव का स्वतः निरोध हो जाता है। आस्रव के कामास्रव, भवास्रव और अविद्यास्रव—ये तीन भेद किये हैं। मञ्जिमनिकाय<sup>२०</sup> में मन, वचन और काय की क्रिया को ठीक-ठीक करने से आस्रव रुकता है यह प्रतिपादित किया गया है। आचार्य उमास्वाति ने भी काय-मन-वचन की क्रिया को योग कहा है और वही आस्रव है।<sup>२१</sup> स्थानांग में त्रिकथा के स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा, राजकथा, मृदुकारुणिकीकथा, दर्शनभेदिनीकथा और चारित्रभेदनीकथा

ये सात प्रकार बताए हैं,<sup>२२</sup> तो बुद्ध ने विकथा के स्थान पर निरुद्धन शब्द का प्रयोग किया है। उसके राजकथा, चोरकथा, महामात्यकथा, सेनाकथा, भयकथा, युद्धकथा, अन्नकथा, पानकथा, वस्त्रकथा, शयनकथा, मालाकथा, गंधकथा, ज्ञातिकथा, यानकथा, गामकथा, निगमकथा, नगरकथा, जनपदकथा, स्त्रीकथा आदि अनेक भेद किये हैं।<sup>२३</sup>

स्थानांग में राग और द्वेष पाप कर्म का बंध बताया है<sup>२४</sup> तो अंगुत्तरनिकाय में तीन प्रकार से कर्मसमुदाय माना है लोभज, दोषज (द्वेषज), मोहज।<sup>२५</sup> उन सभी में मोह को अधिक दोषजनक माना है।<sup>२६</sup>

स्थानांग व समवायांग में आठ मद के स्थान बताये हैं—जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपमद, श्रुतमद, लाभ और ऐश्वर्य मद।<sup>२७</sup> तो अंगुत्तरनिकाय में मद के तीन प्रकार बताये हैं—यौवन, आरोग्य, जीवित मद। इन तीनों मदों से मानव दुराचारी बनता है।<sup>२८</sup>

स्थानांग, समवायांग<sup>२९</sup> में आस्रव के निरोध को संवर कहा और उसके भेद-प्रभेदों की चर्चा की है; तथागत बुद्ध ने अंगुत्तरनिकाय में कहा आस्रव का निरोध मात्र संवर से ही नहीं होता। उन्होंने इस प्रकार उसका विभाग किया—(१) संवर से (इन्द्रियाँ मुक्त होती हैं तो इन्द्रियों का संवर करने से गुप्तेन्द्रियाँ होने से तदजभ्य आस्रव नहीं होता।) (२) प्रतिसेवना से (३) अधिवासना से (४) परिवर्जन से (५) विनोद से (६) भावना<sup>३०</sup> से—इस सभी में अविद्या निरोध को ही मुख्य आस्रव निरोध<sup>३१</sup> माना है।

स्थानांग आदि में अरिहन्तं, सिद्ध, साधु, धर्म इन चार शरण आदि का उल्लेख है, तो बुद्ध परम्परा में बुद्ध, धर्म और संघ ये तीन शरण को महत्त्व दिया गया है। स्थानांग में जैन उपासक के लिए पाँच अणुव्रतों का विधान है<sup>३२</sup> तो अंगुत्तरनिकाय में बौद्ध उपासक के लिए पाँच शील का उल्लेख है—(१) प्राणातिपातविरमण, (२) दत्तादानविरमण, (३) काम-भोग-मिथ्याचार से विरमण, (४) मृषावादविरमण, (५) सुरा, मैरेय मद्य प्रमाद स्थान से विरमण<sup>३३</sup>।

स्थानांग में<sup>३४</sup> प्रश्न के छह प्रकार बताये हैं—संशय प्रश्न, मिथ्यान्निवेश प्रश्न, अनुयोगी प्रश्न, अनुलोम प्रश्न, जानकर किया गया प्रश्न, न जानने से किया गया प्रश्न। अंगुत्तरनिकाय में प्रश्न के सम्बन्ध में



निर्णय करते हुए बुद्ध ने बताया कि कितने प्रश्न ऐसे होते हैं कि जिसके एक अंश का उत्तर देना चाहिए; कितने ही प्रश्न ऐसे हैं जो प्रश्नकर्ता से प्रतिप्रश्न कर उत्तर देना चाहिए, कितने ही प्रश्न ऐसे हैं जिनका विभाग कर उत्तर देना चाहिए।<sup>३५</sup>

स्थानांगसूत्र में छः लेश्याओं का वर्णन है और इन लेश्याओं के भव्य और अभव्य की दृष्टि से संयोगी आदि भंग प्रतिपादित किये गये हैं।<sup>३६</sup> वैसे ही अंगुत्तरनिकाय<sup>३७</sup> में पूरण कश्यप द्वारा छः अभिजातियों का उल्लेख किया गया है जो रंगों के आधार पर निश्चित की गई है; वह इस प्रकार है (१) कृष्णाभिजाति—ब्रकरी, सुअर, पक्षी और पशु-पक्षी पर अपनी आजीविका चलाने वाले मानव कृष्णाभिजाति हैं। (२) नीलाभिजाति—कंटक वृत्ति भिक्षुक नीलाभिजाति हैं। बौद्ध भिक्षु तथा अन्य कर्मवाले भिक्षुओं का समूह। (३) लोहिताभिजाति—एक शटक निर्ग्रन्थों का समूह। (४) हरिद्राभिजाति—श्वेत वस्त्रधारी या निर्वस्त्र। (५) शुक्राभिजाति—आजीवक श्रमण-श्रमणियों का समूह। (६) परम शुक्लाभिजाति—आजीवक आचार्य नन्द, वत्स, कृश सांकृत्य मस्करी; गोशालक आदि का समूह।

आनन्द ने गौतमबुद्ध से इन छः अभिजातियों के सम्बन्ध में पूछा तो उन्होंने कहा कि मैं भी छह अभिजातियों की प्रज्ञापना करता हूँ।

(१) कोई पुरुष कृष्णाभिजातिक ( नीच कुल में उत्पन्न ) होकर कृष्ण कर्म तथा पापकर्म करता है।

(२) कोई पुरुष कृष्णाभिजातिक होकर धर्म करता है।

(३) कोई पुरुष कृष्णाभिजातिक होकर अकृष्ण, अशुक्ल निर्वाण को पैदा करता है।

(४) कोई पुरुष शुक्लाभिजातिक ( ऊँचे कुल में उत्पन्न हो ) शुक्ल धर्म करता है।

(५) कोई पुरुष शुक्लाभिजातिक हो, कृष्ण धर्म करता है।

(६) कोई पुरुष शुक्लाभिजातिक हो, अकृष्ण-अशुक्ल निर्वाण को पैदा करता है।<sup>३७</sup>

महाभारत<sup>३८</sup> में प्राणियों के वर्ण छः प्रकार के बताये हैं। सनत्कुमार ने दानवेन्द्र वृत्तासुर से कहा—प्राणियों के वर्ण छह होते हैं—कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, हारिद्र और शुक्ल। इनमें से कृष्ण धूम्र नील वर्ण का

सुख मध्यम होता है। रक्त-वर्ण अधिक सहा होता है। हारिद्र वर्ण सुखकर और शुक्ल वर्ण अधिक सुखकर होता है।

गीता<sup>३८</sup> में गति के कृष्ण और शुक्ल ये दो विभाग किये हैं। कृष्ण गतिवाला पुनः-पुनः जन्म लेता है और शुक्ल गतिवाला जन्म-मरण से मुक्त होता है।

धम्मपद<sup>४०</sup> में धर्म के दो विभाग किये गये हैं। वहाँ वर्णन है कि पण्डित मानव को कृष्ण धर्म को छोड़कर शुक्ल धर्म का आचरण करना चाहिए।

पतञ्जलि ने पातञ्जल<sup>४१</sup> योग सूत्र में कर्म की चार जातियाँ प्रतिपादित की हैं। कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण, शुक्ल, अशुक्ल-अकृष्ण। ये क्रमशः अशुद्धतर, अशुद्ध, शुद्ध और शुद्धतर हैं।

इस तरह लेश्याओं के साथ में आंशिक दृष्टि से तुलना हो सकती है।

स्थानांग में सुगत के तीन प्रकार बताये गये हैं—(१) सिद्धि सुगत, (२) देव सुगत, (३) मनुष्य सुगत।<sup>४२</sup> अंगुत्तर-निकाय में भी राग-द्वेष और मोह को नष्ट करनेवाले को सुगत कहा है।<sup>४३</sup>

स्थानांग में लिखा है कि पाँच कारणों से जीव दुर्गति में जाता है। ये कारण हैं—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह।<sup>४४</sup> अंगुत्तर निकाय<sup>४५</sup> में नरक जाने के कारणों पर चिन्तन करते हुए लिखा है—अकुशल काय कर्म, अकुशल वाक् कर्म, अकुशल मन कर्म और सावद्य आदि कर्म<sup>४६</sup> नरक के कारण हैं।

श्रमणोपासक के लिये उपासकदशांग सूत्र और अन्य आगमों में सावद्य व्यापार का निषेध किया गया है तथा उन्हें पन्द्रह कर्मादान के अन्तर्गत स्थान दिया गया है तो बौद्ध साहित्य में भी सावद्य व्यापार का निषेध है। वहाँ भी कहा गया है शस्त्र वाणिज्य, जीव का व्यापार, मांस का व्यापार, मद्य का व्यापार और विष व्यापार<sup>४७</sup> नहीं करने चाहिए।

स्थानांग व अन्य आगम साहित्य में श्रमण निर्ग्रन्थ इन छह कारणों से आहार ग्रहण करता है—(१) क्षुधा की उपशांति (२) वैयावृत्य के लिए (३) इर्याविशुद्धि के लिए (४) संयम के लिए (५) प्राण धारण करने के लिए और (६) धर्म चिन्ता के लिए।<sup>४८</sup> अंगुत्तरनिकाय में आनंद ने एक श्रमणी को इसी प्रकार का उपदेश दिया है।<sup>४९</sup>

स्थानांग<sup>१०</sup> में इहलोकभय, परलोकभय, आदानभय, अकस्मात् भय, वेदनाभय, मरणभय और अश्लोकभय आदि सात भयस्थान बताये हैं तो अंगुत्तरनिकाय<sup>११</sup> में जाति, जन्म, जरा, व्याधि, मरण; अग्नि, उदक, राज, चोर, आत्मानुवाद—अपने दुश्चरित्र का विचार कि दूसरे मुझे दुश्चरित्र कहेंगे इसका भय, दंड, दुर्गति आदि अनेक भयस्थान बताये गये हैं ।

समवायांगसूत्र में नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवताओं के आवास स्थल के सम्बन्ध में विस्तार से निरूपण है । जैसे कि रत्नप्रभा पृथ्वी में एक लाख ७८ हजार योजन प्रमाण में ३० लाख नरकावास हैं । इसी प्रकार अन्य नरकवासों का भी उल्लेख है और देवों के आवास का भी वर्णन है । वैसे ही अंगुत्तर निकाय में नवसत्त्वावास माने हैं । उनमें सभी जीवों को विभक्त कर दिया गया है ।<sup>१२</sup> ये नवसत्त्वावास निम्न हैं—

प्रथम सत्त्वावास में विविध प्रकार के काय और संज्ञावाले कितने ही मनुष्य देव और विनिपातिकों का समावेश है ।

दूसरे आवास में विविध प्रकार की कायावाले किन्तु समान संज्ञावाले ब्रह्मकायिक देवों का वर्णन है ।

तीसरे आवास में समान कायवाले किन्तु विविध प्रकार की संज्ञावाले अभास्वर देवों का वर्णन है ।

चतुर्थ आवास में एक सदृश काय और संज्ञावाले शुभ कृष्ण देवों का निरूपण है ।

पाँचवें आवास में असंज्ञी और अप्रतिसंवेदी ऐसे असंज्ञ सत्त्व देवों का वर्णन है ।

छठें आवास में रूप संज्ञा, पटिष संज्ञा और विविध संज्ञा से आगे बढ़कर जैसे आकाश अनन्त है । वैसे आकाशानंचायतन को प्राप्त हुए वैसे सत्त्वों का निरूपण है ।

सातवें आवास में उन सत्त्वों का वर्णन है जो आकाशानंचायतन को भी अतिक्रमण करके अनन्त विज्ञान हैं, ऐसे विज्ञानानंचायतन को प्राप्त हुए हैं ।

आठवें आवास में वे सत्त्व हैं जो कुछ भी नहीं हैं अकिञ्चायतन को प्राप्त हुए हैं ।

नवें आवास में वे सत्त्व हैं जो नवञ्जाना-सञ्जायतन को प्राप्त हैं ।

स्थानांगसूत्र में बताया है कि मध्यलोक में चन्द्र, सूर्य, मणि, ज्योति, अग्नि से प्रकाश होता है ।

अंगुत्तरनिकाय में आभा, प्रभा, आलोक और प्रज्योत इन प्रत्येक के चार प्रकार बताये गये हैं । वे हैं—चन्द्र, सूर्य, अग्नि, प्रज्ञा ।<sup>५३</sup>

स्थानांग में लोक को चौदह रज्जु प्रमाण कहकर उसमें जीव और अजीव द्रव्यों का सद्भाव बताया है । वैसे ही अंगुत्तरनिकाय में भी लोक को अनंत कहा है<sup>५४</sup> और वह सान्त भी है । तथागत बुद्ध ने यही कहा है कि पांच काम गुण रूप रसादि यही लोक है और जो मानव पांच काम गुण का परित्याग करता है वही लोक के अन्त में पहुँचकर वहाँ पर विचरण करता है ।

स्थानांग में भूकंप के तीन कारण बताये हैं<sup>५५</sup> (१) पृथ्वी के नीचे का घनवात व्याकुल होता है और उससे घनोदधि समुद्र में तूफान आता है, (२) कोई महेश नामक महोरग देव अपने सामर्थ्य का प्रदर्शन करने के लिए पृथ्वी को चलित करता है, (३) देवासुर-संग्राम जब होता है तब भूकंप आता है ।

अंगुत्तरनिकाय में भूकंप के आठ कारण बताये हैं<sup>५६</sup> (१) पृथ्वी के नीचे की महावायु के प्रकम्पन से उस पर रही हुई पृथ्वी प्रकम्पित होती है, (२) कोई श्रमण-ब्राह्मण अपनी ऋद्धि के बल से पृथ्वी-भावना को करता है, (३) जब बोधिसत्त्व माता के गर्भ में आते हैं, (४) जब बोधिसत्त्व माता के गर्भ से बाहर आते हैं, (५) जब तथागत अनुत्तर ज्ञान लाभ को प्राप्त करते हैं, (६) जब तथागत धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हैं, (७) जब तथागत आयु संस्कार का नाश करते हैं, (८) जब तथागत निर्वाण प्राप्त करते हैं ।

जैन दृष्टि से जैन आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर ऐसा उल्लेख है कि एक क्षेत्र में एक ही तीर्थंकर या चक्रवर्ती आदि होते हैं । जैसे भरत क्षेत्र में एक तीर्थंकर, ऐरावत क्षेत्र में एक तीर्थंकर, महाविदेह क्षेत्र के बत्तीस विजय में बत्तीस तीर्थंकर, इस प्रकार जम्मूद्वीप में ३४ तीर्थंकर और उसी प्रकार ६८, ६८ तीर्थंकर क्रमशः धातकी खण्ड और अर्द्ध-पुष्कर में होते हैं । इस प्रकार कुल उत्कृष्ट १७० तीर्थंकर हो सकते हैं किन्तु सभी का क्षेत्र पृथक्-पृथक् होता है । जैन मान्यता की तरह ही

अंगुत्तरनिकाय में भी एक क्षेत्र में एक ही चक्रवर्ती और एक ही तथागत बुद्ध होते हैं ऐसी मान्यता है।

समवायांग<sup>१७</sup> में बताया है कि जहाँ अरिहन्त तीर्थंकर विचरते हैं वहाँ ईति, उपद्रव का भय नहीं रहता, मारी का भय, स्वचक्र, परचक्र का भय नहीं रहता। आदि तीर्थंकर के ३४ अतिशय हैं। अंगुत्तरनिकाय में तथागत बुद्ध के ५ अतिशय बताये हैं।<sup>१८</sup> वे अर्थज्ञ होते हैं, धर्मज्ञ होते हैं, मर्यादा के ज्ञाता होते हैं, कालज्ञ होते हैं और परिषद् को जानने-वाले होते हैं।

दोनों परम्पराओं ( जैन और बौद्ध ) में चक्रवर्ती का उल्लेख है और उसको बहुजनों के हितकर्ता माना है। स्थानांग<sup>१९</sup> और समवायांग<sup>२०</sup> में चक्रवर्ती के १४ रत्न बताये गये हैं। तो दीघनिकाय<sup>२१</sup> में चक्रवर्ती के ७ रत्नों का उल्लेख है। उनकी उत्पत्ति और विजयगाथा प्रायः एक सदृश है।

स्थानांग<sup>२२</sup> में बुद्ध के तीन प्रकार—ज्ञानबुद्ध, दर्शनबुद्ध और चारित्रबुद्ध बताये हैं तथा स्वयंसंबुद्ध, प्रत्येकबुद्ध और बुद्धबोधित ये तीन प्रकार बताये गये हैं। अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध के तथागतबुद्ध और प्रत्येकबुद्ध ये दो प्रकार बताये गये हैं।<sup>२३</sup>

स्थानांग<sup>२४</sup> में स्त्री के स्वभाव का चित्रण करते हुए चतुर्भंगी बताई गई है। वैसे ही अंगुत्तरनिकाय<sup>२५</sup> में भार्या की सप्तभंगी बताई गई है (१) वधक के समान (२) चोर के समान (३) अय्य सदृश (४) अकर्म कामा (५) आलसी (६) चण्डी (७) दुरुक्तवादिनी इत्यादि लक्षण युक्त। माता के समान, भगिनी के समान, सखी के समान और दासी के समान स्त्री के ये अन्य प्रकार बताए हैं।

स्थानांग<sup>२६</sup> में चार प्रकार के मेघ बताये हैं (१) गर्जना करते हैं किन्तु बरसते नहीं है, (२) गर्जते नहीं बरसते हैं, (३) गरजते और बरसते हैं, (४) गरजते भी नहीं बरसते भी नहीं। इस उपमा का संकेत किया है तो अंगुत्तरनिकाय<sup>२७</sup> में इस प्रत्येक भंग में पुरुष को घटाया गया है (१) बहुत बोलता है किन्तु करता कुछ नहीं, (२) बोलता नहीं पर करता है, (३) बोलता भी नहीं और करता भी नहीं, (४) बोलता भी है, करता भी है। इसी प्रकार गरजना और बरसना रूप चतुर्भंगी अन्य प्रकार से भी घटित की गई है।

स्थानांग<sup>६८</sup> में कुंभ के चार प्रकार बताये गये हैं (१) पूर्ण और अपूर्ण, (२) पूर्ण और तुच्छ (३) तुच्छ, और पूर्ण, (४) तुच्छ और अतुच्छ। इसी तरह कुछ प्रकारान्तर से अंगुत्तरनिकाय<sup>६९</sup> में कुंभ की उपमा पुरुष चतुर्भंगी से घटित की है (१) तुच्छ—खाली होने पर भी ढक्कन होता है, (२) भरा होने पर भी ढक्कन नहीं होता, (३) तुच्छ होता है ढक्कन नहीं होता है, (४) भरा हुआ होता है और ढक्कन भी होता है।

(१) जिसकी वेश-भूषा तो ठीक है किन्तु आर्यसत्य का परिज्ञान नहीं है वह प्रथम कुंभ के सदृश है। आर्यसत्य का परिज्ञान होने पर भी बाह्य आकार सुन्दर नहीं हो वह द्वितीय कुंभ के सदृश है। (२) बाह्य आकार भी सुन्दर नहीं और आर्यसत्य का भी परिज्ञान नहीं। (३) बाह्य आकार भी सुन्दर और आर्यसत्य का परिज्ञान भी है। इसी तरह अन्य चतुर्भंगों के साथ निकाय के विषयवस्तु की तुलना की जा सकती है।

इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र की अनेक गाथाओं से बौद्ध साहित्य-धम्मपद,<sup>७०</sup> श्वेरीगाथा,<sup>७१</sup> श्वेरगाथा,<sup>७२</sup> अंगुत्तरनिकाय,<sup>७३</sup> सुत्त-निपात,<sup>७४</sup> जातक,<sup>७५</sup> महावग्ग<sup>७६</sup> तथा वैदिक साहित्य श्रीमद्-भागवत<sup>७७</sup> एवं महाभारत के शान्तिपर्व,<sup>७८</sup> उद्योगपर्व,<sup>७९</sup> विष्णु-पुराण,<sup>८०</sup> श्रीमद्भगवद्गीता,<sup>८१</sup> श्वेताश्वतर उपनिषद् शांकर भाष्य<sup>८२</sup> का भाव और अर्थ साम्य है।

उत्तराध्ययन के २५वें अध्ययन में ब्राह्मणों के लक्षणों का निरूपण किया गया है और प्रत्येक गाथा के अन्त में “तं वयं ब्रूम महार्णं” पद है। उसकी तुलना बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद के ब्राह्मण वर्ग ३६वें तथा सुत्त-निपात के वासेट्टसुत्त ३५ के २४५वें अध्याय से की जा सकती है। धम्म-पद के ब्राह्मण वर्ग की गाथा के अन्त में “तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं” पद आया है। सुत्तनिपात में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार महाभारत के शान्तिपर्व अध्याय २४५ में ३६ श्लोक हैं उनमें ७ श्लोकों के अन्तिम चरण में ‘तं देवा ब्राह्मणं विदुः’ ऐसा पद है। इस प्रकार तीनों परम्परा के माननीय ग्रन्थों में ब्राह्मण के स्वरूप की मीमांसा की गई है। उस मीमांसा में कुछ शब्दों के परिवर्तन के साथ उन्हीं रूपक और उपमाओं के प्रयोग द्वारा विषय को स्पष्ट किया है।

दशवैकालिक<sup>८३</sup> को अनेक गाथाओं की तुलना धम्मपद,<sup>८४</sup> संयुक्त निकाय,<sup>८५</sup> सुत्तनिपात,<sup>८६</sup> कौशिक जातक,<sup>८७</sup> विसवन्त जातक,<sup>८८</sup>

इतिवृत्तक,<sup>९९</sup> श्रीमद्भागवत,<sup>१०</sup> श्रीमद्भगवद्गीता,<sup>११</sup> मनुस्मृति,<sup>१२</sup> आदि के साथ की जा सकती है। कहीं पर शब्दों में साम्य है तो कहीं पर अर्थ में साम्य है।

इसी तरह सूत्रकृतांग की तुलना दीघनिकाय के साथ, उपासक दशांग की तुलना दीघनिकाय के साथ, अन्तकृत दशांग की तुलना थेर और थोरीगाथा के साथ राजप्रहनीय की तुलना पायासीमुत्त के साथ, निशीथ की तुलना विनयपिटक के साथ और छेद सूत्रों की तुलना पातिमुख के साथ की जा सकती है।

जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में अनेकों शब्दों का प्रयोग समान रूप से हुआ है। उदाहरण के लिए हम कुछ शब्द-साम्य यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

निर्ग्रन्थ—निर्ग्रन्थ, जो अन्तरंग और बहिरंग से मुक्त है। जैन परम्परा में तो श्रमणों के लिए 'निर्ग्रन्थ' शब्द हजारों बार व्यवहृत हुआ है।<sup>१३</sup> बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में भी जैन श्रमणों के लिए 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रमण भगवान् महावीर के पुनीत प्रवचन को भी निर्ग्रन्थ प्रवचन कहा है।

भन्ते—जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में आदरणीय व्यक्तियों को आमंत्रित करने के लिए 'भन्ते' (भदन्त) शब्द व्यवहृत हुआ है।<sup>१४</sup>

थेरे—दोनों ही परम्पराओं में ज्ञान, वय और दीक्षा पर्याय आदि को लेकर थेरे या स्थविर शब्द का व्यवहार हुआ है।<sup>१५</sup> बौद्ध परम्परा में बारह वर्ष से अधिक वृद्ध भिक्षुओं के लिए थेर या थेरी शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन परम्परा में भी एक मर्यादा निश्चित की गई है। जो स्वयं भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य आदि में स्थिर रहता है और दूसरों को भी स्थिर करता है, वह स्थविर है। स्थविर को भगवान् की उपमा से अलंकृत किया गया है। गीता में 'स्थविर' के स्थान पर 'स्थितप्रज्ञ' का प्रयोग हुआ है। स्थितप्रज्ञ वह विशिष्ट व्यक्ति होता है जिसका आचार निर्मल और विचार पवित्र होते हैं।

आउसो—जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में समान या अपने से लघु व्यक्तियों के लिए 'आउस' (आयुष्यमान्) शब्द का प्रयोग हुआ है। तथागत बुद्ध को 'आउस गौतम' कहकर सम्बोधित किया गया है

तो गोशालक ने भी भगवान् महावीर को 'आउसो कासवाँ' कहकर सम्बोधित किया है।<sup>९९</sup>

अर्हत् और बुद्ध—वर्तमान में जैन परम्परा में 'अर्हत्' शब्द और बौद्ध परम्परा में 'बुद्ध' शब्द रूढ हुआ है। जैनागमों में 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है। जैसे सूत्रकृतांग<sup>१०७</sup> राजप्रश्नीय<sup>१०८</sup>, स्थानांग<sup>१०९</sup>, समवायांग<sup>११०</sup> आदि में। बौद्ध परम्परा में पूज्य व्यक्तियों के लिए 'अर्हत्' शब्द व्यवहृत हुआ है। यत्र-तत्र तथागत बुद्ध को 'अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध'<sup>१११</sup> कहा गया है। तथागत बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् ५०० भिक्षुओं की एक विराट् सभा होती है। वहाँ आनन्द के अतिरिक्त ५९९ भिक्षुओं को 'अर्हत्' कहा गया है। कार्यारम्भ होने के पश्चात् आनन्द को भी 'अर्हत्' लिखा गया है।<sup>११२</sup> शताधिक बार 'अर्हत्' शब्द का प्रयोग हुआ है।

जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में गृहस्थ उपासक के लिए 'श्रावक' शब्द व्यवहृत<sup>११३</sup> हुआ है। जैन परम्परा में गृहस्थ के लिए 'श्रावक' शब्द आया है तो बौद्ध परम्परा में भिक्षु और गृहस्थ दोनों के लिए 'श्रावक' शब्द का प्रयोग मिलता है।<sup>११४</sup> इसी प्रकार उपासक या श्रमणोपासक शब्द भी दोनों ही परम्पराओं में प्राप्त है। गृहस्थ के लिए 'आगार' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। जैन साहित्य में 'आगाराओ अणगारियं पक्वइत्तए' शब्द आया है<sup>११५</sup> तो बौद्ध साहित्य में भी 'अगारम्मा अनगारियं पक्वज्जन्ति' यह शब्द व्यवहृत हुआ है।<sup>११६</sup> सम्यक्-दृष्टि और मिथ्यादृष्टि इन शब्दों का प्रयोग भी जैन और बौद्ध साहित्य में प्राप्त होता है। स्वयं के अनुयायियों के लिए 'सम्यक् दृष्टि' और दूसरे के अनुयायियों के लिए 'मिथ्यादृष्टि' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'वैरमण' शब्द का प्रयोग भी दोनों ही परम्पराओं में व्रत लेने के अर्थ में हुआ है।

मज्झिमनिकाय<sup>११७</sup> में सम्मादिट्ठि सुत्तन्त नामक एक सूत्र है। उसमें सम्यक् दृष्टि का वर्णन करते हुए लिखा है—आर्य श्रावक सम्यग्दृष्टि होता है। उसकी दृष्टि सीधी होती है। वह धर्म में अत्यन्त श्रद्धावान् होता है। वह अकुशल एवं अकुशलमूल को जानता है। साथ ही कुशल और कुशलमूल को भी जानता है। जिससे वह आर्य श्रावक सम्यग्दृष्टि होता है।



अकुशल दस प्रकार का है और अकुशलमूल तीन प्रकार का है—

(१) प्राणातिपात (हिंसा) (२) अदत्तादान (चोरी) (३) काम (स्त्री-संसर्ग) में मिथ्याचार (४) मृषावाद (झूठ बोलना) (५) पिशुन वचन (चुगली) (६) परुष वचन (कठोर भाषण) (७) संप्रलाप (बकवास) (८) अभिध्या (लालच) (९) व्यापाद (प्रतिहिंसा) (१०) मिथ्यादृष्टि (झूठी धारणा) हे आवुसो ये अकुशल हैं।

(१) लोभ (२) द्वेष (३) मोह—ये तीन अकुशलमूल हैं।

जैन दृष्टि से साधना का मूल सम्यग्दर्शन है और साधना का बाधक तत्त्व मोहनीय कर्म। राग और द्वेष ये मोह के ही प्रकार हैं। इसी प्रकार मज्झिमनिकाय में बुराइयों की जड़ लोभ, द्वेष और मोह को बताया गया है।

तत्त्वार्थ सूत्र में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के अधिगम और निसर्ग—ये दो कारण बताये हैं।<sup>१०८</sup> मज्झिमनिकाय<sup>१०९</sup> में एक प्रश्नोत्तर मिलता है कि सम्यग्दृष्टि ग्रहण के कितने प्रत्यय हैं? उत्तर में कहा—दो प्रत्यय हैं—(१) दूसरों के धोष—उपदेश श्रवण और (२) योनिशः मनस्कार—मूल पर विचार करना।

जैन दृष्टि से साधना की पाँच भूमिकाएँ हैं। व्रतों से पहले सम्यक् दर्शन को स्थान दिया गया है। उसके पश्चात् विरति है। मज्झिमनिकाय के सम्मादिट्ठि सुत्तन्त में दस कुशल धर्मों का उल्लेख है।<sup>११०</sup> उनका समावेश पाँच महाव्रतों में इस प्रकार किया जा सकता है।

#### महाव्रत

#### कुशल धर्म

- |               |                                      |
|---------------|--------------------------------------|
| १. अहिंसा     | (१) प्राणातिपात (९) व्यापाद से विरति |
| २. सत्य       | (४) मृषावाद (५) पिशुन वचन            |
| ३. अचीर्य     | (६) परुष वचन (७) संप्रलाप से विरति   |
| ४. ब्रह्मचर्य | (२) अदत्तादान से विरति               |
| ५. अपरिग्रह   | (३) काम में मिथ्याचार से विरति       |
|               | (८) अभिध्या से विरति                 |

भावना—प्रश्न व्याकरण सूत्र में पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का उल्लेख है।<sup>१११</sup> अन्यत्र अनित्य, अशरण, संसार आदि द्वादश भावनाओं का भी उल्लेख<sup>११२</sup> है। तत्त्वार्थ सूत्र आदि में मैत्री, प्रमोद,

कारुण्य, माध्यस्थ भावना का उल्लेख<sup>११३</sup> है। तो मज्झिमनिकाय में सम्यग्दर्शन के साथ ही भावना का भी वर्णन आया है। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना करने वाला आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त कर सकता है।<sup>११४</sup>

स्थानांग,<sup>११५</sup> आवश्यक,<sup>११६</sup> व तत्त्वार्थसूत्र<sup>११७</sup> आदि में इस बात को प्रतिपादित किया गया है कि व्रत ग्रहण करने वाले व्यक्ति को शल्य रहित होना चाहिए। शल्य वह है जो आत्मा को कांटे की तरह दुःख दे। उसके तीन प्रकार हैं—

(१) माया शल्य—छल-कपट करना।

(२) निदान शल्य—आगामी काल में विषयों की वांछा करना।

(३) मिथ्यादर्शन शल्य—तत्त्वों का श्रद्धान न होना।

मज्झिमनिकाय<sup>११८</sup> में तृष्णा के लिए शल्य शब्द का प्रयोग हुआ है और साधक को उससे मुक्त होने के लिए कहा गया है।

आचारांग के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में इन्द्रिय संयम की महत्ता बताते हुए कहा है कि रूप, रस, गन्ध, शब्द एवं स्पर्श अज्ञानियों के लिए आवर्त रूप हैं। ऐसा समझकर विवेकी उनमें मूर्च्छित नहीं होता। यदि प्रमाद के कारण पहले इनकी ओर झुकाव रहा तो ऐसा निश्चय करना चाहिए कि मैं इनसे बचूँगा—इनमें नहीं फँसूँगा, पूर्ववत् आचरण नहीं करूँगा।

मज्झिमनिकाय<sup>११९</sup> में पाँच इन्द्रियों का वर्णन है—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय। इन पाँचों इन्द्रियों का प्रतिशरण मन है। मन इनके विषय का अनुभव करता है।

पाँच काम गुण है—(१) चक्षु विज्ञेय रूप (२) श्रोत्र विज्ञेय शब्द (३) घ्राण विज्ञेय गन्ध (४) जिह्वा विज्ञेय रस (५) काय विज्ञेय स्पर्श।<sup>१२०</sup>

स्थानांग, भगवती आदि में नरक, तिर्यग्, मनुष्य और देव इन चार गतियों का वर्णन है।

मज्झिमनिकाय<sup>१२१</sup> में पाँच गतियाँ बताई हैं। नरक, तिर्यग्, प्रेत्य-विषय, मनुष्य, देवता। जैन आगमों में प्रेत्यविषय और देवता को एक कोटि में माना है। भले ही निवासस्थान की दृष्टि से दो भेद किये गये हों पर गति की दृष्टि से वे दोनों एक ही हैं।

जैन आगम साहित्य में नरक और स्वर्ग में जाने के निम्न कारण बताये<sup>१२२</sup> हैं—महारम्भ, महापरिग्रह, मद्यमांस का आहार और पंचेन्द्रिय बध ये नरक के कारण हैं। सरागसंयम, संयमासंयम, बाल-तपोपकर्म और अकाम निर्जरा ये स्वर्ग के कारण हैं।

मज्झिमनिकाय<sup>१२३</sup> में भी नरक और स्वर्ग के कारण बताये गये हैं। वे ये हैं—

[कायिक ३] हिंसक, अदिन्नादायी (चोर) काम में मिथ्याचारी; [वाचिक ४] मिथ्यावादी, चुगलखोर, पक्षभाषी, प्रलापी [मानसिक ३] अभिध्यालु, व्यापन्नचित्त, मिथ्यादृष्टि। इन कर्मों को करनेवाले नरक में जाते हैं, इसके विपरीत कार्य करने वाले स्वर्ग में जाते हैं।

जैन दर्शन की साधना पद्धति का परम और चरम लक्ष्य मोक्ष रहा है। मोक्ष का अर्थ है आत्म-गुणों का पूर्ण विकास, कर्म की परतन्त्रता से पूर्ण रूप से मुक्त होना। उसमें शरीरमुक्ति और क्रियामुक्ति होती है।

मोक्ष के लिए पाप का प्रत्याख्यान, इन्द्रिय संगोपन, शरीर संयम, वाणी संयम, मानमाया परिहार, ऋद्धि रस और सूख के गौरव का त्याग, उपशम, अहिंसा, अचौर्य, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, ध्यान, योग और कायव्युत्स गये अकर्म वीर्य हैं। पण्डित इनके द्वारा मोक्ष का परिव्राजक बनता है।<sup>१२४</sup> निर्वाण किसी क्षेत्र विशेष का नाम नहीं है अपितु मुक्त आत्माएँ ही निर्वाण हैं, वे लोकाग्र में रहती हैं अतः उपचार से उसे भी निर्वाण कहा जाता है। मुक्त जीव अलोक से प्रतिहत हैं, लोकान्त में प्रतिष्ठित हैं।<sup>१२५</sup>

मुक्त जीव के शरीर नहीं होते। मुक्त दशा में आत्मा का किसी अन्य शक्ति में विलय नहीं होता। सभी मुक्त जीवों की विकास स्थिति समान होती है और उनकी स्वतन्त्र सत्ता होती है। मुक्त दशा में आत्मा संपूर्ण वैभाविक, औपाधिक विशेषताओं से मुक्त होता है, उसका पुनरावर्तन नहीं होता।

मज्झिमनिकाय में निर्वाण मार्ग का विस्तार से वर्णन है।<sup>१२६</sup> वहाँ पर निर्वाण को परमसुख<sup>१२७</sup> कहा है और बताया है कि शीलविशुद्धि तभी तक है जब तक कि पुरुष चित्त-विशुद्धि को प्राप्त नहीं होता। चित्त-विशुद्धि तभी तक है जब तक कि दृष्टिविशुद्धि को प्राप्त नहीं होता।

दृष्टिविशुद्धि तभी तक है जब तक कि कांक्षावितरणविशुद्धि को प्राप्त नहीं होता। कांक्षावितरणविशुद्धि तब तक है जब तक मार्गामार्गज्ञान दर्शन विशुद्धि को प्राप्त नहीं होता। मार्गामार्गदर्शन विशुद्धि तब तक है जब तक कि प्रतिपद ज्ञानदर्शन विशुद्धि की प्राप्ति नहीं होती। प्रतिपदज्ञानदर्शनविशुद्धि तब तक है जब तक कि ज्ञानदर्शनविशुद्धि को प्राप्त नहीं होता। ज्ञानदर्शनविशुद्धि तभी तक है जब तक कि उपादान रहित परिनिर्वाण को प्राप्त नहीं होता।<sup>१२८</sup>

**अजात**—जन्मरहित, अनुत्तर-सर्वोत्तम योगक्षेम (मंगलमय) निर्वाण पर्येषणा करता है।<sup>१२९</sup>

जैन और बौद्ध दोनों ही दर्शनों में निर्वाण की चर्चा है। दोनों ने निर्वाण के लिए सच्चा विश्वास, ज्ञान और आचार-विचार को प्रधानता दी है, पर दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि बौद्ध दृष्टि से द्रव्य सत्ता का अभाव ही निर्वाण है जब कि जैन दृष्टि से आत्मा की शुद्ध अवस्था निर्वाण है।

**पुद्गल**—पुद्गल शब्द का प्रयोग जैन और बौद्ध वाङ्मय के अतिरिक्त अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। भगवतीसूत्र में जीव तत्त्व के अर्थ में पुद्गल शब्द का प्रयोग हुआ है।<sup>१३०</sup> किन्तु जैन परम्परा में मुख्य रूप से पुद्गल वर्ण, गन्ध, रस, संस्थान और स्पर्श वाले रूपी जड़ पदार्थ को कहा है। बौद्ध परम्परा में पुद्गल का अर्थ आत्मा और जीव है।<sup>१३१</sup>

**'विनय'**—शब्द का प्रयोग भी दोनों ही परम्पराओं में मिलता है। उत्तराध्ययन और दशवैकालिक सूत्र और ज्ञाताधर्मकथा में विनय की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए विनय को धर्म का व जिनशासन का मूल कहा है।<sup>१३२</sup>

बौद्ध साहित्य में सम्पूर्ण आचारधर्म के अर्थ में 'विनय' शब्द का प्रयोग हुआ है। विनय-पिटक में इसी बात का निरूपण किया गया है।

जैन परम्परा में 'अरिहन्त' 'सिद्ध' 'साधु' और केवली-प्रज्ञप्त धर्म को 'शरण' माना है।<sup>१३३</sup> तो बौद्ध परम्परा में बुद्ध संघ और धर्म को 'शरण' कहा गया है।<sup>१३४</sup> जैन परम्परा में चार शरण हैं और बौद्ध परम्परा में तीन शरण है।

जैन परम्परा में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, इन्द्र आदि पुरुष ही होते हैं।

## ( २२ )

मल्लि भगवती, स्त्रीलिंग से तीर्थंकर हुई थीं, पर उन्हें दस आश्चर्यों में से एक आश्चर्य माना गया है।<sup>१३५</sup> अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध ने भी कहा कि 'भिक्षु यह तनिक भी सम्भावना नहीं है कि स्त्री अर्हत्, चक्रवर्ती व शक्र हो।' <sup>१३६</sup>

जैन आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर यह वर्णन है कि भरत आदि एक ही क्षेत्र में, एक समय में एक साथ दो तीर्थंकर नहीं होते, तथागत बुद्ध ने भी अंगुत्तरनिकाय में इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा कि इसमें किञ्चित् भी तथ्य नहीं है कि एक ही समय में दो सम्यक् अर्हत् पैदा हों।

शब्द साम्य की तरह उक्ति साम्य भी दोनों परम्पराओं में मिलता है साथ ही कुछ कथाएँ भी दोनों परम्पराओं में एक सदृश मिलती हैं, यहाँ तक कि वैदिक और विदेशी साहित्य में भी उपलब्ध होती हैं। उदाहरणार्थ—ज्ञातधर्मकथा की सातवीं चावल के पाँच दानेवाली कथा कुछ रूपान्तर के साथ बौद्धों के सर्वास्तिवाद के विनयवस्तु तथा बाइबल<sup>१३७</sup> में भी प्राप्त होती है। इसी प्रकार जिनपाल और जिन-रक्षित<sup>१३८</sup> की कहानी बालहस्सजातक<sup>१३९</sup> व दिव्यावदान में नामों के हेर-फेर के साथ कही गयी है। उत्तराध्ययन के बारहवें अध्ययन हरि-केशवल की कथावस्तु मातङ्गजातक में मिलती है।<sup>१४०</sup> तेरहवें अध्ययन चित्तसम्भूत<sup>१४१</sup> की कथावस्तु चित्तसम्भूतजातक में प्राप्त होती है। चौदहवें अध्ययन इषुकार की कथा हृत्थिपालजातक<sup>१४२</sup> व महाभारत के शांतिपर्व<sup>१४३</sup> में उपलब्ध होती है। उत्तराध्ययन के नौवें अध्ययन 'नमि प्रव्रज्या' की आंशिक तुलना महाजनजातक<sup>१४४</sup> तथा महाभारत के शांतिपर्व<sup>१४५</sup> से की जा सकती है।

इस प्रकार महावीर के कथा साहित्य का अनुशीलन-परिशीलन करने से स्पष्ट परिज्ञात होता है कि ये कथाएँ आदिकाल से ही एक सम्प्रदाय से दूसरे सम्प्रदाय में, एक देश से दूसरे देश में यात्रा करती रही हैं। कहानियों की यह विश्वयात्रा उनके शाश्वत और सुन्दर रूप की साक्षी दे रही है जिस पर सदा ही जनमानस मुग्ध होता रहा है।

उपर्युक्त पंक्तियों में संक्षेप में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। स्थानाभाव के कारण जैसे विस्तार से चाहता था वैसे नहीं लिख सका तथापि जिज्ञासुओं को इसमें बहुत कुछ जानने को मिलेगा

और यह तुलनात्मक अध्ययन दुराग्रह और संकीर्ण दृष्टि के निरसन में सहायक होगा ।

## उपसंहार

श्रमण भगवान् महावीर एक विराट् व्यक्तित्व के धनी महापुरुष थे । वे महान् क्रांतिकारी थे । उनके जीवन में सत्य, शाली, सौन्दर्य और शक्ति का ऐसा अद्भुत समन्वय था जो विश्व के अन्य महापुरुषों में एक साथ देखा नहीं जा सकता । उनकी दृष्टि अत्यधिक पैनी थी । समाज में पनपती हुई आर्थिक विषमता, विचारों की विविधता और काम जन्य वासना के काले-कजरारे दुर्दमनीय नागों को उन्होंने अहिंसा, सत्य, संयम और तप के गरुडी संस्पर्श से कीलकर समता, सद्भावना व स्नेह की सरस सरिता प्रवाहित की । अज्ञान अन्धकार में भटकती हुई मानव-प्रज्ञा को शुद्ध सत्य की ज्योति का दर्शन कराया । यही उनके प्रवचनों का मुख्य उद्देश्य था । यही कारण है कि उन्होंने जन-जन के कल्याणार्थ उस युग की बोली अर्धमागधी में अपने पावन प्रवचन किये और अपने कल्याणकारी दृष्टिकोण से जन-जीवन में अभिनव-जागृति का संचार किया । उनके पवित्र प्रवचन जो अर्थ रूप में थे, उनका संकलन-आकलन गणधरों व स्थिवरों ने सूत्र रूप में किया । अर्धमागधी भाषा में संकलित यह आगम साहित्य विषय की दृष्टि से, साहित्य की दृष्टि से व सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । जब भारत के उत्तर-पश्चिमो और पूर्व के कुछ अंचलों में ब्राह्मण धर्म का प्रभुत्व बढ रहा था उस समय जैन श्रमणों ने मगध और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में परिभ्रमण कर जैन धर्म की विजय-वैजयन्ती फहरायी । यह उस विशाल साहित्य के अध्ययन, चिन्तन-मनन से परिज्ञात होता है । इसमें जैन श्रमणों के उत्कृष्ट आचार-विचार, व्रत-नियम, सिद्धान्त, स्वमत संस्थापन, परमत निरसन प्रभृति अनेक विषयों पर विस्तार से विश्लेषण है । विविध आख्यान, चरित्र, उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि के द्वारा विषय को अत्यन्त सरल व सरस बनाकर प्रस्तुत किया गया है । वस्तुतः आगम साहित्य, जैन संस्कृति इतिहास, समाज और धर्म का आधार स्तम्भ है । इसके बिना जैनधर्म का सही व सांगोपांग परिचय नहीं प्राप्त हो सकता । यह सत्य-तथ्य है कि विभिन्न परिस्थितियों के कारण जैन धर्म के सिद्धान्तों में भी परिवर्तन-परिवर्द्धन होते रहे हैं, पर आगम साहित्य में मूल दृष्टि से कोई अन्तर नहीं आया है ।

आगम-साहित्य में आयी हुई अनेक बातें परिस्थितियों के कारण से विस्मृत होने लगीं। आगमों के गहन रहस्य जब विस्मृति के अंचल में छिपने लगे तो प्रतिभामूर्ति आचार्यों ने उन रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए निर्युक्ति भाष्य, चूर्ण, टीका आदि व्याख्या साहित्य का सृजन किया। फलस्वरूप आगमों के व्याख्या साहित्य ने अतीत काल से आने-वाली अनेक अनुश्रुतियों, परम्पराओं, ऐतिहासिक और अर्ध-ऐतिहासिक कथानकों एवं धार्मिक, आध्यात्मिक व लौकिक कथाओं के द्वारा जैन साहित्य के गुरु गम्भीर रहस्यों को प्रकट किया। यह साहित्य व्याख्यात्मक होने पर भी जैन धर्म के मर्म को समझने के लिए अतीव उपयोगी है। इसमें जैन-आचारशास्त्र के विधि-विधानों को सूक्ष्म-चर्चा है। हिंसा-अहिंसा, जिनकल्प व स्थविरकल्प की विविध अवस्थाओं का विशद विश्लेषण किया गया है। क्रियानादी, अक्रियावादी आदि ३६३ मत-मतान्तरों का उल्लेख है। गणधरवाद और निह्लववाद—ये दर्शनशास्त्र की विविध दृष्टियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। आजीविक, तापस, परिव्राजक, तत्क्षणिक और बोटिक आदि मत-मतान्तरों का भी विश्लेषण हुआ है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान के स्वरूप पर विस्तार से चिन्तन कर केवलज्ञान और केवलदर्शन के भेद और अभेद का युक्ति पुरस्सर विचार है। अनुमान आदि प्रमाण शास्त्र पर भी चिंतन किया गया है। कर्मवाद जैन दर्शन का हृदय है। कर्म, कर्म का स्वभाव, कर्मस्थिति, रागादि की तीव्रता से कर्मबंध, कर्म का वैविध्य, समुद्घात, शैलेषी अवस्था, उपशम और क्षपक श्रेणो पर गहराई से चिन्तन किया गया है। ध्यान के सम्बन्ध में भी पर्याप्त विवेचन है। क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त श्रमणों की चिकित्सा की मनोवैज्ञानिक विधि प्रतिपादित की गई है। साथ ही क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त होने के कारणों पर भी चिंतन किया गया है।

भगवान् ऋषभदेव मानव-समाज के आद्य निर्माता थे। उनके पवित्र चरित्र के माध्यम से आहार, शिल्प, कर्म, लेखन, मानदण्ड, इक्षुशास्त्र, उपासना, चिकित्सा, अर्थशास्त्र, यज्ञ, उत्सव, विवाह आदि अनेक सामाजिक विषयों पर चर्चा की गई है। मानव जाति को सात वर्णों एवं नौ वर्णान्तरों में विभक्त किया गया है। सार्थ, सार्थवाहों के प्रकार छह प्रकार की आर्य जातियाँ, छह प्रकार के आर्यकुल आदि समाज शास्त्र से सम्बद्ध विषयों

पर विश्लेषण किया गया है। साथ ही ग्राम, नगर, खेड, कर्वाटक, मडम्ब, पत्तान, आकर, द्रोणमुख, निगम और राजधानी का स्वरूप भी चित्रित किया गया है। साढ़े पच्चीस आर्य देशों की राजधानी आदि का भी उल्लेख किया गया है। राजा, युवराज, महत्तर, अमात्य, कुमार, निय-तिक, रूपयक्ष, आदि के स्वरूप और कार्यों पर भी चिन्तन किया गया है। साथ ही उस युग की संस्कृति और सभ्यता पर प्रकाश डालते हुए रत्न एवं धान्य की २४ जातियाँ बताई गई हैं। जांचिक आदि पाँच प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख है। १७ प्रकार के धान्य भण्डारों का वर्णन है। दण्ड, विदण्ड, लाठी, विलट्टी के अन्तर को स्पष्ट किया गया है। कुण्डल, गुण, मणि, तुडिय, तिसरिय, बालभा, पलंबा, हार, अर्धहार, एकावली कनकावली, मुक्तावली, रत्नावली, पट्ट, मुकुट आदि उस युग में प्रचलित नाना प्रकार के आभूषणों के स्वरूप को भी चित्रित किया गया है। उद्यान गृह, निर्याण गृह, अट्ट-अट्टालक, शून्यगृह, भिन्नगृह, तृणगृह, गोगृह आदि अनेक प्रकार के गृहों का, कोष्ठागार, भांडागार, पानागार, क्षीण गृह, गजशाला, मानसशाला आदि के स्वरूप पर भी विचार किया गया है। इस प्रकार आचारशास्त्र, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, नागरिक-शास्त्र, मनोविज्ञान आदि पर आगम और उसके व्याख्या साहित्य में प्रचुर सामग्री है।

आगम साहित्य का विषय की दृष्टि से ही नहीं किन्तु साहित्यिक दृष्टि से भी प्रभूत महत्त्व है। आगमों में विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है। उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा, श्लेष, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं पर जीव को पतंग, विषयों को दीपक और आसक्ति को आलोक की उपमा प्रदान की है। आगम साहित्य में गद्य और पद्य का मिश्रण भी पाया जाता है। यद्यपि गद्य और पद्य का स्वतन्त्र अस्तित्व है, किन्तु वे दोनों समान रूप से विषय को विकसित और पल्लवित करते हैं। प्रस्तुत प्रणाली ही आगे चलकर चम्पूकाव्य या गद्य-पद्यात्मक कथा काव्य के विकास का मूल-स्रोत बनी। कथाओं के विकास के सम्पूर्ण रूप भी आगम साहित्य में मिलते हैं। वस्तु, पात्र, कथोपकथन, चरित्र-निर्माण प्रभृति तत्त्व आगम व व्याख्या साहित्य में पाये जाते हैं। तर्क प्रधान दर्शन शैली का विकास भी आगम साहित्य में है। जीवन और जगत् के विविध अनुभवों की जानकारी का यह साहित्य अनुपम कोश है।



दिगम्बराचार्यों ने श्वेतांबरों के आगमों को प्रामाणिक नहीं माना । श्वेताम्बर दृष्टि से केवल दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अंग ही विच्छिन्न हुआ जब कि दिगम्बर दृष्टि से सम्पूर्ण आगम साहित्य ही लुप्त हो गया । केवल दृष्टिवाद का कुछ अंश अवशेष रहा जिसके आधार से षट्खण्डागम की रचना हुई और उसी मूल आधार से अन्य अनेक मेधावी आचार्यों ने उन विषयों पर ग्रंथ लिखे । आत्मा और कर्म सम्बन्धी गहन चर्चा के ये ग्रंथ बहुत ही जटिल हो गये । श्वेताम्बर आगम साहित्य के समान विविध विषयों की विषद् चर्चाएँ दिगम्बर साहित्य में नहीं हैं । श्वेताम्बर और दिगम्बर आगम को समझने के लिए दोनों का तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है ।

दोनों ही परम्पराओं में अनेक प्रतिभासम्पन्न ज्योतिर्धर आचार्य हुए, जिन्होंने आगम साहित्य के एक-एक विषय को लेकर विपुल साहित्य का सृजन किया । उस साहित्य में उन आचार्यों का प्रकाण्ड पांडित्य और अनेकान्त दृष्टि स्पष्ट रूप से झलक रही है । आवश्यकता है उस विराट् साहित्य के अध्ययन, चिन्तन और मनन की । यह वह आध्यात्मिक सरस भोजन है जो कदापि बासी नहीं हो सकता । यह जीवन दर्शन है । प्राचीन मनीषी के शब्दों में यदि यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि “यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत्त्वचित्” आगम साहित्य में लोकनीति, सामाजिक शिष्टाचार, अनुशासन, अध्यात्म, वैराग्य, इतिहास और पुराण, कथा और तत्त्वज्ञान, सरल और गहन, अन्तः और बाह्य जगत् सभी का गहन विश्लेषण है जो अपूर्व है अनूठा है । जीवन के सर्वांगीण अध्ययन के लिए आगम साहित्य का अध्ययन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है । भौतिक भक्ति के युग में पले-पोसे मानवों के अन्तर्मनिस में जैन आगम साहित्य के प्रति यदि रुचि जाग्रत हुई तो मैं अपना प्रयास पूर्ण सफल समझूँगा । इसी आशा के साथ लेखनी को विश्राम देता हूँ ।

### संदर्भ

१. आचारांग १।३।३
२. सुबालोपनिषद् ९ खण्ड ईशाद्यष्टोत्तर शतोपनिषद्, पृ० २१०
३. भगवद्गीता, अ० २, श्लो० २३

४. आचारांग १।४।४
५. गौडपादकारिका, प्रकरण २, श्लो० ६
६. आचारांग १।५।६
७. केनोपनिषद्, खण्डे १, श्लोक ३
८. कठोपनिषद्, अ० १, श्लोक १५
९. बृहदारण्यक ब्राह्मण ८, श्लोक ८
१०. माण्डूक्योपनिषद्, श्लो० ७
११. तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली २, अनुवाक् ४
१२. ब्रह्मविद्योपनिषद्, श्लोक ८१-९१
१३. आचारांग १।६।३
१४. नारदपरिव्राजकोपनिषद् ७ उपदेश
१५. संन्यासोपनिषद् १ अध्याय
१६. स्थानांग ६
१७. अंगुत्तरनिकाय ४।७७
१८. (क) स्थानांग ५, ४।१९; (ख) समवायांग ५
१९. अंगुत्तरनिकाय ३।५८, ६।६३
२०. मज्झिमनिकाय १।१।२
२१. तत्त्वार्थसूत्र अ० ६।१-२
२२. स्थानांग ५६९
२३. अंगुत्तर निकाय १०, ६९
२४. स्थानांग ९६
२५. अंगुत्तरनिकाय ३।३
२६. वही ३।९७, ६।३९
२७. (क) स्थानांग ६०६, (ख) समवायांग ८
२८. अंगुत्तरनिकाय ३।३९
२९. (क) स्थानांग ४२७, ५९८, (ख) समवायांग १।५
३०. अंगुत्तरनिकाय ६।६३
३१. स्थानांग ३८९
३२. अंगुत्तरनिकाय ८।२५
३३. स्थानांग ५३४
३४. अंगुत्तरनिकाय ४२

३५. स्थानांग ५१  
३६. अंगुत्तरनिकाय ६।६।३, भाग तीसरा पृ०-३५, ९३-९४  
३७. (क) वही ६।६।३, भाग तीसरा पृष्ठ ९३, ९४ (ख) दीवनिकाय  
३।१०, पृष्ठ २९५  
३८. महाभारत, शान्तिपर्व, २८०।३३  
३९. गीता ८।२६  
४०. घम्पपद, पण्डितवग्ग, इलोक १९  
४१. पातञ्जलयोगसूत्र ४।७  
४२. स्थानांग १८१  
४३. अंगुत्तर निकाय ३।७२  
४४. स्थानांग ३९१  
४५. अंगुत्तरनिकाय ३।७२  
४६. वही ३।१४१, १५३  
४७. वही ५।१७८  
४८. स्थानांग ५००  
४९. अंगुत्तरनिकाय ४।१५९  
५०. स्थानांग ५४९  
५१. अंगुत्तरनिकाय ४।११९, ५।७७  
५२. वही  
५३. वही ४।१४१, १४५  
५४. वही ९।३८  
५५. स्थानांग ३  
५६. अंगुत्तरनिकाय ८।७०  
५७. समवायांग ३४  
५८. अंगुत्तरनिकाय ५।१२१  
५९. स्थानांग ५५८  
६०. समवायांग १४  
६१. दीवनिकाय १७  
६२. स्थानांग ३।१५६  
६३. अंगुत्तरनिकाय २।६।५  
६४. स्थानांग २७९  
६५. अंगुत्तरनिकाय ७।१९

६६. स्थानांग ४।३४६

६७. अंगुत्तरनिकाय ४।११०

६८. स्थानांग ४।३६०

६९. अंगुत्तरनिकाय ४।१०३

७०. उक्त० १।१५; धम्मपद १२।३

७१. वही १।१७; थेरीगाथा २४७

७२. वही २।३; थेरगाथा २४६, ६८६

७३. वही ४।१; अंगुत्तरनिकाय पृ० १५९

७४. वही २।२५; सुत्तनिपात, व० ८, १४।१८

७५. वही १।१४; जातक ५३९, श्लोक १२५; जातक ५२९, श्लोक १६

७६. वही ११।१५; महावग्ग १।६।१९

७७. वही २।३ भागवत० ११।१८।९

७८. वही १।१४ महाभारत शांतिपर्व २८७।३५

उक्त० २।३—शांतिपर्व २३४।११; उक्त० २।१९, २०—शांतिपर्व १२।१०, ९, १३; उक्त० १।४०—शांतिपर्व २५८।५; उक्त० १३।२३—शांतिपर्व १७५।१८, १९; उक्त० १३।२५—शांतिपर्व ३२१।७४; उक्त० १४।१५—शांतिपर्व १७५।२०; उक्त० १४।१६, १७—शांतिपर्व १७५।३८; उक्त० १४।२१—शांतिपर्व १७५।७, २७७।७; उक्त० १४।२२—शांतिपर्व १७५।८; २७७।८; उक्त० १४।२३—शांतिपर्व १७५।९, २७७।९; उक्त० १४।२४, २५—शांतिपर्व १७५।१०, ११, १२; २७७।१०, ११, १२; उक्त० १४।४६—शांतिपर्व १७८।९ ।

७९. उक्त० १।४९—उद्योगपर्व ३९।८४, उक्त० १३।२३—उद्योगपर्व ४०।१५, १८; उक्त० १३।२४—उद्योगपर्व ४०।१७; उक्त० १३।२५—उद्योगपर्व ४०।१७; उक्त० २५।२९—उद्योगपर्व ४३।३५ ।

८३. उक्त० १।४९—विष्णु पुराण ४।१०।१०

८१. उक्त० २०।३६, ३७—गीता ६।५, ६; उक्त० २५।३१—गीता ४।१३; उक्त० ३२।१००—गीता २।६४

८२. उक्त० ३२।२० शांकर भाष्य, श्वेता उप० पृ० २३

८३. दशवै० १।१—धम्मपद ११।६

८४. वही १।२—धम्मपद ४।६

वही ८।३८—धम्मपद १७।३

८५. वही २।१—संयुत्तनिकाय १।१।१७

८६. वही १०।८,—सुत्तनिपात ५२।१०  
 वही १०।१०—सुत्तनिपात ५२।१६  
 वही १०।११—सुत्तनिपात ५४।४-५
८७. वही ५।२।४—कौशिकजातक २२६
८८. वही २।७—विसवन्तजातक ६९
८९. वही ४।८—इतिवृत्तक १२
९०. वही ३।२-३—भागवत ११।१८।३  
 वही ३।९—भागवत ७।१२।१२
९१. वही ४।७—गीता २।५४  
 वही ४।९—गीता ५।७  
 वही ४।१०—गीता ४।३८
९२. वही ३।१२—मनुस्मृति ६।२३
९३. कल्पसूत्र २०४, पृ० २८१
९४. भगवतीसूत्र ७।३।२७९
९५. थेरा भगवन्तो—भगवती
९६. भगवतीशतक १५
९७. सूत्रकृतांग १।१।३६
९८. राजप्रश्नीय ५
९९. स्थानांग ठा० ३
१००. समवायांग सूत्र २।२
१०१. दीघनिकाय सामञ्जसफलसुत्त १।५
१०२. विनयपिटक पंचशतिकास्कन्धक
१०३. उपासकदशांग, भगवती
१०४. अंगुत्तरनिकाय एककनिपात १४
१०५. भगवती
१०६. महावग्ग
१०७. मज्झिमनिकाय १।१।९
१०८. तन्निसगदिधिगमाद्धा—तत्त्वार्थसूत्र १।३
१०९. मज्झिमनिकाय १।५।३
११०. मज्झिमनिकाय १।१।९
१११. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार
११२. (क) तत्त्वार्थसूत्र ९।७ (ख) बारस अणुवेवखा; आ० कुन्दकुन्द
११३. तत्त्वार्थसूत्र ७।११

११४. मज्झिमनिकाय १।४।१०  
 ११५. स्थानांग १८२; समवायांग ३  
 ११६. माया सल्ले, नियाण सल्ले मिच्छादंसण सल्ले  
 ११७. तत्त्वार्थसूत्र ७।१८  
 ११८. मज्झिमनिकाय ३।१।५  
 ११९. वही १।५।३  
 १२०. वही १।२।४  
 १२१. वही १।२।२  
 १२२. स्थानांग ४।४।३७३  
 १२३. मज्झिमनिकाय १।५।१  
 १२४. सूत्रकृतांग १।८।१।३६  
 १२५. औपपातिकसूत्र  
 १२६. मज्झिम निकाय १।३।४  
 १२७. वही २।३।५  
 १२८. वही १।३।४  
 १२९. वही १।३।६  
 १३०. भगवती ८।३।१०; २०।३।२  
 १३१. मज्झिमनिकाय ११४  
 १३२. विनयजिनशासनमूलो  
 १३३. आवश्यकसूत्र  
 १३४. अंगुत्तरनिकाय  
 १३५. स्थानांग, ठा० १०  
 १३६. अंगुत्तरनिकाय  
 १३७. सेन्ट मेथ्यू की सुवार्ता २५; सेन्ट ल्यूक की सुवार्ता १९  
 १३८. ज्ञाताधर्मकथा ८  
 १३९. बालहृस्सजातक पृ० १८६  
 १४०. जातक (चतुर्थ खण्ड) ४९७; मातंगजातक, पृ० ५८३-६०७  
 १४१. जातक (चतुर्थ खण्ड) ४९८, चित्तसंभूतजातक, पृ० ५९८-६००  
 १४२. हत्थिपाल जातक ५०९  
 १४३. शांतिपर्व, अध्याय १७५, २९७  
 १४४. महाजनजातक ५३९ तथा सोनकजातक सं० ५२९  
 १४५. महाभारत शांतिपर्व, अ० १७८ एवं २७६

## प्राचीन भारतीय वाङ्मय में पार्श्वचरित

डा० जयकुमार जैन

जैनधर्म के तेईसवें तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ के चरित को जैन कवियों ने तीर्थङ्कर महावीर के बाद प्रथम स्थान दिया है। भारतवर्ष की सभी भाषाओं में तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के चरित्र पर लिखे गये अनेक काव्य उपलब्ध हैं। क्योंकि पार्श्वनाथ का आख्यान बड़ा ही रोचक तथा घटनाप्रधान है। जैन शास्त्रों की मान्यतानुसार पार्श्वनाथ के २५० वर्ष बीत जाने पर भगवान् महावीर का जन्म हुआ था।<sup>१</sup> वीरनिर्वाण सम्वत् और ईस्वीसन् में ५२७ वर्ष का अन्तर है। तीर्थङ्कर महावीर की कुल आयु कुछ कम ७२ वर्ष की थी।<sup>२</sup> अतएव ५२७+७२=५९९ वर्ष ई० पू० में महावीर का जन्म सिद्ध होता है। महावीर के जन्म के २५० वर्ष पू० अर्थात् ५९९+२५०=८४९ वर्ष ई०पू० पार्श्वनाथ का निर्वाण समय है।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं—संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश में २० से भी अधिक काव्य तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के जीवनचरित को लेकर विविध काव्यविधाओं में लिखे गये हैं। उन्हीं का संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।

### १. पार्श्वभ्युदय<sup>३</sup>—जिनसेन

यह तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के विषय में लिखा गया प्रथम काव्य तथा समस्यापूर्तिकाव्यों में भी आद्य और सर्वोत्तम रचना है। चार सर्गात्मक इस काव्य में क्रमशः ११८, ११८, ५७, और ७१ कुल ३६४ पद्य हैं। कविकुलगुरु कालिदास कृत मेघदूत के पद्यों के एक या दो पादों को लेकर समस्यापूर्ति के रूप में सम्पूर्ण पार्श्वभ्युदय की रचना की गई है। मन्दाक्रान्ता छन्द के अतिरिक्त ५ मालिनी और १ वसन्ततिलका छन्द है। आचार्य जिनसेन ( ८वीं शताब्दी ) के समय मेघदूत का क्या रूप था—यह जानने के लिए पार्श्वभ्युदय का अद्वितीय महत्त्व है।

पार्श्वनाथविषयक उत्तरकालीन काव्यों की तरह इस काव्य में

तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के अनेक जन्मजन्मान्तरों का समावेश नहीं हो सका है। कथावस्तु बहुत ही संक्षिप्त है। पोदनपुर के नृपति अरविन्द द्वारा बहिष्कृत कमठ सिन्धुतट पर तपस्या कर रहा था। उसी समय भ्रातृप्रेम के कारण कमठ का अनुज मरुभूति उसके पास गया। किन्तु क्रोधावेश में आकर कमठ ने उसे मार डाला। अनेक जन्मों में यही चक्र चलता रहता है। अन्तिम जन्म में कमठ शम्बर और मरुभूति पार्श्वनाथ बनता है। पार्श्वनाथ को साधना से विचलित करने के लिए शम्बर अनेक उपसर्ग करता है, पर पार्श्वनाथ विचलित नहीं होते। धरणेन्द्र देव और पद्मावती देवी आकर पार्श्वनाथ के उपसर्ग दूर कर देते हैं। अन्त में पार्श्वनाथ केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं और इस घटना को देखकर शम्बर भी पश्चात्ताप करता हुआ क्षमायाचना करता है।

इस काव्य में शम्बर यक्ष के रूप में, राजा अरविन्द कुबेर के रूप में और पार्श्वनाथ मेघ के रूप में चित्रित जान पड़ते हैं। काव्य में धार्मिक प्रतिपादन कुछ भी नहीं किया गया है। इस काव्य में मेघदूत की शृङ्गार रस की पंक्तियों का शान्तरस में परिवर्तन जिनसेन जैसे परिनिष्ठित कवि द्वारा ही संभव हो सका है।

पार्श्वभ्युदय की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि जिनसेन सेनसंघ के आचार्य वीरसेन के शिष्य और राष्ट्रकूटनरेश अमोघवर्ष के समकालीन थे।<sup>४</sup> पार्श्वभ्युदय की सगन्तिपुष्पिका में जिनसेन को अमोघवर्ष का गुरु कहा गया है।<sup>५</sup> आचार्य जिनसेनकृत महापुराण ( आदिपुराण ) के पूरक उत्तरपुराण के रचयिता आचार्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण की प्रशस्ति में अमोघवर्ष को जिनसेन का भक्त चित्रित किया है।<sup>६</sup> अमोघवर्ष का राज्यकाल ८१५-८७७ ई० माना जाता है।<sup>७</sup> अतः जिनसेन का समय इससे कुछ पूर्व होना चाहिए। शकाब्द ७०५ ( ७८३ ई० ) में रचित हरिवंशपुराण में जिनसेनाचार्य ने पार्श्वभ्युदय के रचयिता जिनसेन का उल्लेख किया है।<sup>८</sup> डाक्टर ज्योतिप्रसाद जैन का मत है कि राजा अमोघवर्ष का जिनसेन से लड़कपन से ही सम्पर्क था।<sup>९</sup> इस प्रकार अन्तः एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर पार्श्वभ्युदय का रचनाकाल ईसा की आठवीं शताब्दी मानना आपत्तिजनक नहीं है।

पार्श्वभ्युदय काव्य पर योगिराज की संस्कृत टीका मिलती है। सुबोधिका नाम की इस टीका में पार्श्वभ्युदय की अत्यन्त प्रशंसा की गई



है। यह टीका मेघदूत पर लिखित मल्लिनाथ की टीका का अनुकरण करती है। टीकाकार योगिराट् ने १३२९ ई० ( शक सं० १३२१ ) में रचित इसगण्डनाथ के नानार्थरत्नमाला कोश का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है।<sup>१०</sup> अतः योगिराट् का समय इसके बाद का निश्चित है। टीकाकार ने जिनसेन और कालिदास को समकालीन बनाने का विचित्र साहस किया है।<sup>११</sup> परन्तु यह प्रमाण विरुद्ध और सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है।

## २. पार्श्वनाथ चरित<sup>१२</sup>—वादिराजसूरि

पार्श्वनाथ चरित द्वादशसर्गात्मक महाकाव्य है। इसका मूल स्रोत गुणभद्राचार्य का उत्तरपुराण है। जिनरत्नकोश में इसका विवरण पार्श्वनाथपुराण नाम से दिया गया है।<sup>१३</sup> कवि ने मंगलाचरण में अपने पूर्ववर्ती अनेक कवियों और आचार्यों का उल्लेख किया है जो कालानुक्रमिक जान पड़ता है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से इसका अत्यन्त महत्व है।<sup>१४</sup> पार्श्वनाथचरित को रचना कवि ने महाराज जयसिंह की राजधानी में ९४७ शक सं० ( १०२५ ई० ) में की थी। इसका कवि ने स्वयं उल्लेख किया है।<sup>१५</sup> इसका प्रधान रस शान्त है, परन्तु अङ्ग रसों के रूप में अन्य सभी रसों का प्रयोग किया गया है। डा० मंगलदेव शास्त्री ने इसे उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य माना है।<sup>१६</sup>

पाण्डवपुराण की प्रशस्ति में आचार्य शुभचन्द्र ने पार्श्वनाथ-चरित्र पर पंजिका नामक टीका होने का उल्लेख किया है। वह टीका भट्टारक श्रीभूषण के अनुरोध पर लिखी गई थी और इसकी प्रथम प्रति श्रीपाल वर्णी ने तैयार की थी।<sup>१७</sup> किन्तु यह पंजिका अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। श्री नाथूराम प्रेमो ने स्व० श्री माणिकचन्द जी के ग्रन्थभण्डार में इस टीका के होने का उल्लेख किया है।<sup>१८</sup>

वादिराजसूरि द्वाविड संघ के अन्तर्गत नन्दिसंघ के अरुंगल नामक अन्वय ( शाखा ) के आचार्य थे।<sup>१९</sup> इनके माता-पिता, जन्मभूमि आदि के विषय में प्रमाण उपलब्ध न होने पर भी गुरु और प्रगुरु (दादा गुरु) का उल्लेख पार्श्वनाथचरित की प्रशस्ति में होने के कारण सन्देहास्पद नहीं है। सिंहपुर के प्रधान श्रीपालदेव वादिराज के गुरु के गुरु थे तथा श्रीपालदेव के शिष्य मतिसागर उनके गुरु थे।<sup>२०</sup> रचनाकाल का उल्लेख

होने से उनका समय ईसा की दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध एवम एकादश शताब्दी का पूर्वार्ध निर्विवाद है।<sup>२१</sup>

### ३. पासणाहचरिउ<sup>२२</sup>—पद्मकीर्ति

अपभ्रंश भाषा में लिखित यह पार्श्वनाथचरित्र १८ सन्धियों में विभक्त है। इसमें विविध छन्दों में लिखित ३१० कड़वक तथा लगभग ३३२३ पंक्तियाँ हैं। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के इस परिमाण का उल्लेख स्वयं किया है।<sup>२३</sup> कवि ने परम्पराप्राप्त कथानक को ही अपनाया है। काव्य-तत्त्वों के साथ ही जैन सिद्धान्तों का भी विरतृत विवेचन होने से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य पद्मकीर्ति आचार्य माधवसेन के प्रशिष्य तथा जिनसेन के शिष्य थे।<sup>२४</sup> पासणाहचरिउ की प्रशस्ति में कवि ने ग्रन्थ का रचना-काल सम्वत् ९९९ कार्तिक मास की अमावस्या उल्लिखित किया है।<sup>२५</sup> किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि यह सम्वत् शक है या विक्रम। दक्षिण भारत में प्रायः शकसम्वत् ही माना जाना चाहिये। इस प्रकार ग्रन्थ का रचना-काल शक सं० ९९९ ( १०७७ ई० ) ठहरता है। डा० हीरालाल जैन एवम् डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने एक स्थल पर पासणाहचरिउ का रचनाकाल ९९२ वि० सं० ( ९३५ ई० ) उल्लिखित किया है।<sup>२६</sup> वहीं डा० नेमिचन्द्र शास्त्री तो यह भी संभावना कर डालते हैं कि वादिराज ने अपने पार्श्वनाथचरित की रचना ( १०२५ ई० ) में पद्मकीर्तिकृत पासणाहचरिउ का भी अध्ययन किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।<sup>२७</sup> पता नहीं उक्त दोनों विद्वानों ने वि० सं० ९९२ कैसे लिख दिया जबकि ग्रन्थकार स्वयं सम्वत् ९९९ का उल्लेख करते हैं। यही नहीं, अन्य स्थल पर डा० नेमिचन्द्रशास्त्री स्वयं ही पद्मकीर्ति के समय पर विचार करते हुए पासणाहचरिउ की समाप्ति विभिन्न प्रमाणों के आधार पर शक सं० ९९२ ही स्वीकार करते हैं।<sup>२८</sup> अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि पद्मकीर्तिकृत पासणाहचरिउ वादिराजसूक्तित पार्श्वनाथचरित से पश्चाद्वर्ती है।

### ४. पासणाहचरिउ—देवदत्त

अपभ्रंश के चरितकाव्यों में डा० देवेन्द्रकुमारशास्त्री ने देवदत्त के पासणाहचरिउ का उल्लेख किया है।<sup>२९</sup> इनकी कृति और इनका स्वयं का परिचय उपलब्ध नहीं होता है।

जम्बुसामिचरिउ के रचयिता महाकवि वीर के पिता का नाम देवदत्त था। देवदत्त अपभ्रंश के अच्छे विद्वान् थे। महाकवि वीर ने अपभ्रंश-साहित्य में अपने को प्रथम, पुष्पदन्त को द्वितीय और अपने पिता देवदत्त को तृतीय स्थान प्रदान किया है।<sup>३०</sup> सम्भव है, यही देवदत्त पासणाह-चरिउ के रचयिता हों। यदि पासणाहचरिउ के रचयिता देवदत्त और महाकवि वीर के पिता देवदत्त अभिन्न हैं तो उनका समय ईसा की १८वीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना जा सकता है। क्योंकि महाकवि वीर के जम्बुसामिचरिउ का रचनाकाल १०१९ ई० मान्य है।<sup>३१</sup>

#### ५. पासणाहचरिउ<sup>३२</sup>—देवभद्रसूरि

यह प्राकृतभाषा में लिखित गद्यपद्यात्मक ग्रन्थ है। इसमें ५ प्रस्ताव हैं, जिनका परिमाण ९००० ग्रन्थाग्रप्रमाण है।<sup>३३</sup> इस पार्श्वनाथचरित में तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के केवल छः भवों का ही वृत्तान्त वर्णित है, जबकि प्रायः अन्य सभी पार्श्वनाथचरितों में ९ पूर्वभवों सहित वृत्तान्त वर्णित है। कथानक में पर्याप्त परिवर्तन होने पर भी कोई कमी प्रतीत नहीं होती है।

आचार्य देवभद्रसूरि का दीक्षा के पूर्व गुणचन्द्रगणि नाम था। इसी-लिए भ्रान्तिवश जिनरत्नकोश में देवभद्र के आगे भी गणि जोड़ दिया गया है। इनके गुरु का नाम प्रसन्नचन्द्र और सन्मति उपाध्याय था। ये दोनों अभयदेवसूरि के शिष्य थे। इन्होंने पासणाहचरिउ की रचना वि० सं० ११६८ ( ११११ ई० ) में की थी।<sup>३४</sup> अतएव इनका समय ग्यारहवीं शती का उत्तरार्ध एवम् बारहवीं शती का पूर्वार्ध माना जा सकता है।

#### ६. पासणाहचरिउ<sup>३५</sup>—विबुध श्रीधर

यह अपभ्रंश भाषा में लिखित एक पौराणिक महाकाव्य है। १२ सन्धियों में विभक्त इसकी कथावस्तु परम्पराप्राप्त है। आकार की दृष्टि से यह २५०० अनुष्टुप्प्रमाण है। विविध छन्दों में आलंकारिक भाषा में निबद्ध यह महाकाव्य काव्यत्व की दृष्टि से उत्तमकोटि का है। नदियों, नगरों आदि का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया गया है।

संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य के अवेषण से श्रीधर नामक विद्वानों का पता चलता है।<sup>३६</sup> किन्तु पासणाहचरिउ में प्रदत्त प्रशस्ति में इनका

परिचय उल्लिखित होने से अन्धकाराच्छन्न नहीं है। ये हरयाणा के मूल निवासी थे। वहाँ से चलकर यमुनापार दिल्ली आये। वहीं पर अग्रवाल नहल साहु की प्रेरणा से उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की थी।<sup>१७</sup> यही कारण है कि दिल्ली का बड़ा ही रम्य वर्णन पासणाहचरित में हुआ है। विबुध श्रीधर की माता का नाम वील्हा और पिता का नाम बुध-गोल्ह था। कवि ने पासणाहचरित की रचना वि० सं० ११८९ (११३२ ई०) में मार्गशीर्ष कृष्णा अष्टमी रविवार को पूर्ण की थी।<sup>१८</sup>

### ७. पासणाहचरित—देवचन्द्र

प्रस्तुत काव्य में ११ सन्धियाँ और २०२ कड़वक हैं। इसका कथानक भी परम्पराप्राप्त है, जिसमें तीर्थकर पार्श्वनाथ के पूर्वभवों सहित जीवन पर प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित है। इसकी हस्त-लिखित प्रति श्री पं० परमानन्दशास्त्री के निजी संग्रह में है। प्रति का लेखनकाल वि० सं० १५४९ ( १४९२ ई० ) है। इसी की एक प्रति पास-पुराण नाम से नागौर के सरस्वतीभवन में है। इस प्रति का लेखनकाल वि० सं० १५२० ( १४६३ ई० ) है। प्रति पूर्ण है।<sup>१९</sup>

पासणाहचरित की प्रशस्ति में इन्हें मूलसंघ के वासवसेन का शिष्य कहा गया है। इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है—श्रीकीर्ति > देवकीर्ति > मौनीदेव > माधवचन्द्र > अभयनन्द > वासवचन्द्र > देवचन्द्र। देवचन्द्र ने पासणाहचरित की रचना गुदिज्जनगर के पार्श्वनाथ मन्दिर में की थी।<sup>२०</sup>

एक वासवसेन नामक विद्वान् का उल्लेख श्रवणवेलगोला (कर्णाटक) के एक शिलालेख में मिलता है।<sup>२१</sup> सम्भवतः यही वासवसेन देवचन्द्र के गुरु हैं। उक्त शिलालेख में वासवसेन को 'स्याद्वादतर्ककर्कशधिषणः' कहा गया है। देवचन्द्र के कालनिर्धारण में कोई आन्तरिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। डा० नेमिचन्द्रशास्त्री ने भाषा शैली आदि के परीक्षण के आधार पर देवचन्द्र का समय ईसा की बारहवीं शती के आसपास माना है।<sup>२२</sup>

### ८. पार्श्वनाथचरित—माणिक्यचन्द्रसूरि

यह दश सर्गात्मक ६७७० श्लोकप्रमाण महाकाव्य है। इसका अंगी-रस शान्त है, किन्तु अंगरूप में अन्य रसों का भी निर्वाह किया गया

है। काव्य अनुष्टुप् छन्द में लिखा गया है, किन्तु सर्गान्त में छन्दों का परिवर्तन है। इनमें शार्दूलविक्रीडित, मालिनी तथा स्रग्धरा छन्द मुख्य हैं। यह काव्य अभी तक अप्रकाशित है। इसको ताड़पत्रीय प्रति शान्तिनाथ भण्डार खम्भात में है।<sup>४३</sup>

माणिक्यचन्द्रसूरि राज्यगच्छीय नेमिचन्द्र के प्रशिष्य और सागरचन्द्र के शिष्य थे।<sup>४४</sup> ये महामात्य वस्तुपाल के समकालीन थे। माणिक्यचन्द्रसूरि ने पार्श्वनाथचरित की रचना वि० सं० १२७६ ( १२१९ ई० ) में दीपावली के दिन वेला के किनारे देवकूपक नामक नगर में की थी।<sup>४५</sup> वि० सं० १२९० ( १२३३ ई० ) में जिनभद्र की प्रबन्धावली में माणिक्यचन्द्र का उल्लेख तथा उनके साथ वस्तुपाल के सम्बन्ध का भी विवरण दिया गया है।<sup>४६</sup> डॉ० रामजी उपाध्याय ने माणिक्यचन्द्र के पिता का नाम सागरेन्दु लिखा है।<sup>४७</sup> परन्तु इस तरह का उल्लेख अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिला है। सम्भवतः डॉ० उपाध्याय ने उनके गुरु के नाम सागरचन्द्र ( सागरेन्दु ) को ही पिता का नाम समझ लिया है।

#### ९. पार्श्वनाथचरित—विनयचन्द्रसूरि

परम्पराप्राप्त कथानक में लिखित यह विनयांकित महाकाव्य है। कोई भी मौलिक परिवर्तन या परिवर्धन इसमें नहीं किया गया है। यह भी अद्यावधि अप्रकाशित है। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ 'हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञान मन्दिर', पाटन में हैं।<sup>४८</sup> काव्य सरल एवं प्रसाद गुण से सम्पन्न है। अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ग्रन्थ अनुष्टुप् छन्द में है, किन्तु सर्गान्त में इन्द्रवज्रा, उपजाति, मालिनी, शिखरिणो आदि छन्दों का भी प्रयोग किया गया है।

विनयचन्द्रसूरि की गुरुपरम्परा ग्रन्थप्रशस्ति के अनुसार इस प्रकार है—चन्द्रगच्छीय शीलगुणसूरि > मानतुंगसूरि > रविप्रभसूरि > १—नरसिंहसूरि, २—नरेन्द्र प्रभसूरि और ३—विनयचन्द्रसूरि। इनका साहित्यिककाल वि० सं० १२८६ से १३४५ ( १२२९ से १२८८ ई० ) तक माना जाता है।<sup>४९</sup> कवि ने संस्कृत, प्राकृत, एवम् गुजराती में अनेक काव्यों की रचना की है।

#### १०. पार्श्वनाथचरित—सर्वानन्दसूरि

यह पाँच सर्गात्मक काव्य है। इसकी एक ताड़पत्रीय प्रति संघवी पाड़ा भण्डार, पटना में जीर्ण अवस्था में मिलती है। इसमें १५६ पृ०

नहीं है तथा कुल ३४५ पृष्ठ हैं।<sup>५०</sup> चन्द्रप्रभचरित्र की रचना इन्होंने वि० सं० १३०२ में की थी।<sup>५१</sup> जिनरत्नकोश के अनुसार पार्श्वनाथ-चरित का रचनाकाल वि० सं० १२९१ ( १२३४ ई० ) है।<sup>५२</sup>

सर्वानन्दसूरि शीलभद्रसूरि के प्रशिष्य और गुणरत्नसूरि के शिष्य थे। चन्द्रप्रभचरित्र की प्रशस्ति के अनुसार सर्वानन्दसूरि की गुरुपरम्परा इस प्रकार है—जयसिंह > चन्द्रसूरि > धर्मघोषसूरि > शीलभद्रसूरि > सर्वानन्दसूरि।<sup>५३</sup> ऊपर दिये गये ग्रन्थों के रचनाकाल के आधार पर इनका समय ईसा की तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है।

### ११. पार्श्वनाथचरित्र<sup>५४</sup>—भावदेवसूरि

यह आठ सर्गात्मक भावांकित महाकाव्य है। कथावस्तु को आधृत कर सर्गों का विभाजन किया गया है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से यह महाकाव्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, परन्तु इसका आकार महाकाव्य का है। इसके आठ सर्गों में क्रमशः ८८५, १०६५, ११०९, १६२, २५४, १३६०, ८३६ और ३९३ पद्य हैं। अन्त में ३० श्लोकात्मक प्रशस्तियाँ भी दी गई हैं। अनेक शास्त्रों की समीक्षा करके कवि ने इस काव्य में परम्परागत कथानक का ग्रथन किया है।<sup>५५</sup> सर्वान्त पुष्पिका में कवि ने अपने इस काव्य को महाकाव्य कहा है।<sup>५६</sup> बीच-बीच में अनेक अवान्तर कथाओं का समावेश है, जिनमें मुख्यतया धार्मिक उपदेश दिये गये हैं। ग्रन्थ में अनुष्टुप् छन्द के अतिरिक्त सर्गान्त में वसन्त-तिलका और शार्दूलविक्रीडित छन्द का भी प्रयोग है। प्रशस्तिपद्यों में इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, मालिनी और शिखरिणी छन्दों का प्रयोग है।

ग्रन्थप्रशस्ति से ज्ञात होता है कि खण्डिल्लगच्छ के चन्द्र कुल में भावदेवसूरि नामक एक विद्वान् हुए। उनके तीन शिष्य थे—(१) विजय-देवसूरि, (२) वीरसूरि और (३) जिनदेवसूरि। पार्श्वनाथचरित्र के रचयिता भावदेवसूरि उक्त तीनों में से जिनदेवसूरि के शिष्य थे।<sup>५७</sup> पार्श्वनाथचरित्र की रचना भावदेवसूरि ने वि० सं० १४१२ ( १२३५ ई० ) में पत्तन नामक नगर में की थी।<sup>५८</sup> श्री पं० हरगोविन्ददास-बेचरदास जी ने पार्श्वनाथचरित्र की प्रस्तावना में प्रशस्तिपद्य में उल्लिखित 'रवि विश्वगर्ष' का अर्थ १३१२ किया है,<sup>५९</sup> जो उचित प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि रवि=१२ और विश्व=१४ मान्य है। अंकों

की विपरीत गति से १४१२ विक्रम सं० ( १३५५ ई० ) ही आता है । इस आधार पर भागदेवसूरि चौदहवीं शताब्दी के विद्वान् हैं ।

### १२. पार्श्वनाथ पुराण—सकलकीर्ति

यह पार्श्वनाथचरित नाम से भी जाना जाता है । वर्ण्यविषय के आधार पर इसका २३ सर्गों में विभाजन किया गया है । इसमें साधना के द्वारा पार्श्वनाथ की निर्वाण-प्राप्ति का वर्णन किया गया है । सकल-कीर्ति ने संस्कृत और राजस्थानी में अनेक ग्रन्थों की रचना की । १५वीं शताब्दी में विद्यमान पद्मपुराण के रचयिता जिनदास इनके शिष्य थे ।<sup>१०</sup>

विपुलचरितकाव्य प्रणयन की दृष्टि से सकलकीर्ति का नाम सर्वोत्कृष्ट एवं महत्त्वपूर्ण है । इनके पिता का नाम कर्णसिंह और माता का नाम शोभा था । ये हूबड़ जातीय थे तथा अणहिलपुरपट्टन के रहनेवाले थे । डा० नेमिचन्द्र शास्त्री सकलकीर्ति का समय वि० स० १४४३-१४९९ ( १३८६-१४४२ ई० ) मानते हैं ।<sup>११</sup> किन्तु प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर ने बलात्कारगण ईडरशाखा कालपट में आचार्यपरम्परा का निर्देश करते हुए सकलकीर्ति का समय वि० सं० १४५०-१५१० ( १३९३-१४५३ ई० ) माना है ।<sup>१२</sup> इस आधार पर इनका साहित्यिक काल पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है ।

### १३. पासणाहचरित<sup>१३</sup>—रड्धू

इसकी कथावस्तु ७ सन्धियों में विभक्त है । रड्धू की समस्त कृतियों में अपभ्रंशभाषा का यह काव्य श्रेष्ठ, सरस और रुचिकर है । इसमें सम्वाद प्रस्तुत करने का ढंग बड़ा ही सुन्दर और नाटकीय है । ये संवाद पात्रों के चरित्रचित्रण में पर्याप्त सहायक सिद्ध होते हैं । रड्धू के पार्श्वनाथचरित की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ कोटा, व्यावर, जयपुर तथा आगरा के ग्रंथभण्डारों में भरी पड़ी हैं ।<sup>१४</sup> इससे ग्रन्थ की लोकप्रियता और महत्ता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है ।

रड्धू काष्ठासङ्घ की माथुरगच्छ की पुष्करगणीय शाखा से सम्बद्ध थे । अपभ्रंश, संस्कृत एवं हिन्दी में इनकी ४० के लगभग रचनायें मिलती हैं । इनके पिता का नाम हरिसिंह, पितामह का नाम संघपति देवराज, माता का नाम विजयश्री तथा पत्नी का नाम सावित्री था । उदयराज नाम का इनका एक पुत्र भी था ।<sup>१५</sup> कवि ने ग्वालियर नगर

का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है, जिससे ग्वालियर की तत्कालीन राज-नीति, समाज, अर्थव्यवस्था, धार्मिक स्थिति आदि का पता चलता है। डॉ० राजाराम जैन ने इनका समय वि० सं० १४५७-१५३६ ( १४००-१४७९ ई० ) माना है।<sup>१६</sup>

#### १४. पासणाहचरित—असवाल कवि

अपभ्रंश भाषा में लिखित यह ग्रन्थ १३ सन्धियों में विभक्त है। कथावस्तु परम्परागत है। इसकी एक ही हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है, जो अग्रवाल दि० जैन मन्दिर मोतीकूटरा, आगरा में है।<sup>१७</sup> काव्यत्व की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व नहीं है।

असवाल कवि गोलाराड वंशीय लक्ष्मण के पुत्र थे। इस काव्य में असवाल ने मूलसंघ बलात्कारगण के आचार्यों का उल्लेख किया है। अतः जान पड़ता है कि ये इसी से सम्बद्ध थे। ग्रंथरचना चौहानवंशी राजा पृथिवीसिंह के राज्यकाल में वि० सं० १४७९ ( १४४२ ई० ) में हुई थी।<sup>१८</sup>

#### १५. पासपुराण—तेजपाल

यह पद्धडिया छन्द में लिखित एक खण्डकाव्य है, जो अद्यावधि अप्रकाशित है। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ भट्टारक हर्षकीर्ति भण्डार, अजमेर<sup>१९</sup>, बड़े घड़े का मन्दिर, अजमेर तथा आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर में हैं। बड़े घड़े का मन्दिर, अजमेर तथा आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर की प्रति का लेखनकाल क्रमशः वि० सं० १५१६ और १५७७ ( १४५९ एवं १५२० ई० ) है।<sup>२०</sup>

कवि तेजपाल मूलसंघ के भट्टारक रत्नकीर्ति, भुवनकीर्ति और विशालकीर्ति की आम्नाय से सम्बन्धित थे। इन्होंने पासपुराण की रचना मुनि पद्मनन्दि के शिष्य शिवनन्दि भट्टारक के संकेत से वि० सं० १५१५ ( १४५८ ई० ) में की थी।<sup>२१</sup> इस आधार पर वि० सं० १५१६ में लिखित बड़े घड़े का मन्दिर, अजमेर की हस्तप्रति उसी समय की लिखी प्रतीत होती है। इस प्रकार कवि का समय ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी है।

#### १६. पार्श्वनाथचरित ( पार्श्वनाथ काव्य )—पद्मसुन्दरगणि

सप्तसर्गात्मक इस काव्य में तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का चरित्र ग्रथित है। कथानक परम्परागत ही है। पद्मसुन्दरगणि आनन्दमेह के प्रशिष्य और



पद्ममेरु के शिष्य थे ।<sup>१२</sup> ये नागौरी तपागच्छीय विद्वान् थे । धातुतरंगिणी के रचयिता हर्षकीर्ति इन्हीं की परम्परा में के थे । उन्होंने धातुतरंगिणी में इनका परिचय इस प्रकार दिया है ।

‘साहेः संसदि पद्मसुन्दरगणिजित्वा महापण्डितं  
सौमग्रामसुखासनाद्यकबरश्रीसाहितो लब्धवान् ।  
हिन्दूकाधिपभालदेवनृपतेमान्यो वदान्योऽधिकं  
श्रीमद्योधपुरे सुरेप्सितवचाः पद्माहयं पाठकम् ॥<sup>१३</sup>

इससे स्पष्ट होता है कि पद्मसुन्दर ने अकबर बादशाह की सभा में किसी महान् पण्डित को परास्त किया था और अकबर ने उन्हें सम्मानित किया था । उन्हें रेशमी दुपट्टा, ग्राम और सुखासन भेंट में दिया था । वे हिन्दू राजा मालदेव ( जोधपुर नरेश ) द्वारा भी सम्मानित थे ।

रायमल्लाभ्युदय नामक ग्रन्थ की रचना इन्होंने दिग्म्बर अग्रवाल-जातीय विद्वान् रायमल्ल के अनुरोध पर<sup>१४</sup> वि० सं० १६१५ ( १५५८ ई० ) में की थी ।<sup>१५</sup> अतएव उनका रचनाकाल ईसा को सोलहवीं शताब्दी का मध्य माना जा सकता है ।

### १७. पार्श्वनाथ चरित<sup>१६</sup> — हेमविजयगणि

यह काव्य छः सर्गों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः ४६९, ३०५, ६३५, ६८३, ४७४ और ४७५ कुल ३०३६ पद्य हैं । अन्त में १६ प्रशस्तिपद्य हैं । सगन्तिपुष्पिका से ज्ञात होता है कि हेमविजयगणि कालविजयगणि के शिष्य थे, जो भट्टारक हीरविजयसूरि और विजयसेनसूरि की परम्परा से संबद्ध थे ।<sup>१७</sup> इस ग्रन्थ का अपना कोई विशेष महत्त्व नहीं है, क्या कि इसमें कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के पार्श्वनाथ चरित अंश को हूबहू नकल उतारी गई है ।

कवि ने ग्रन्थप्रणयन और परिमाण का उल्लेख प्रशस्ति में स्वयं किया है । उनके अनुसार पार्श्वनाथचरित की रचना वि० सं० १६६२ ( १५७५ ई० ) में हुई थी तथा ग्रन्थ ३१६० अनुष्टुप्प्रमाण है ।<sup>१८</sup>

### १८. पार्श्वपुराण — वादिचन्द्र

यह १५०० श्लोक प्रमाण पौराणिक शैली में लिखा गया काव्य है । कवि वादिचन्द्र पवनदूत के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं । इनके गुरु का

नाम भट्टारक प्रभाचन्द्र और गुरु के गुरु का नाम ज्ञानभूषण था ।<sup>७९</sup> इसकी एक हस्तलिखित प्रति इटावा के सरस्वती भण्डार में है ।<sup>८०</sup>

पार्श्वनाथपुराण में वादिचन्द्र ने अपने को प्रभाचन्द्र के पट्ट का अधिकारी बतलाते हुए उन्हें अनेक दार्शनिकों से महान् बताया है तथा पार्श्वनाथपुराण की रचना वि० सं० १६४० ( १५८३ ई० ) में कार्तिक शुक्ला पंचमी को वाल्मीकिनगर में करने का उल्लेख किया है ।<sup>८१</sup> इस प्रकार कवि का रचनाकाल ईसा की १६ वीं शताब्दी का अन्तिम चरण है ।

### १९. पार्श्वनाथचरित<sup>८२</sup>—उदयवीरगणि

यह आठ सर्गात्मक काव्य है जिसमें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का चरित हेमचन्द्राचार्य कृत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित-के अनुसार संस्कृत गद्य में लिखा गया है । कथानक के बीच-बीच में प्रसिद्ध ग्रन्थों की सूक्तियों को उद्धृत किया गया है तथा प्रसङ्गानुसार अवान्तर कथाओं का भी समावेश हुआ है ।

उदयवीरगणि तपागच्छीय हेमसूरि के प्रशिष्य और संघवीर के शिष्य थे । हेमसूरि जगच्चन्द्रसूरि के प्रशिष्य और हेमविजयसूरि के शिष्य थे । उक्त परम्परा का उल्लेख उदयवीरगणि ने पार्श्वनाथ चरित की सर्गान्तपुष्पिका में स्वयं किया है ।<sup>८३</sup> प्रशस्ति के अनुसार पार्श्वनाथचरित का रचनाकाल वि० सं० १६५४ ( १५९७ ई० ) है ।<sup>८४</sup>

### २०. पार्श्वपुराण—चन्द्रकीर्ति

यह पन्द्रह सर्गात्मक काव्य है जो २७१० ग्रन्थाग्रप्रमाण है । इसकी रचना वि० सं० १६५४ ( १५९७ ई० ) में श्रीभूषण भट्टारक के शिष्य चन्द्रकीर्ति ने बैसाख शुक्ला सप्तमी को गुरुवार के दिन देवगिरि के पार्श्वनाथ जिनालय में की थी ।<sup>८५</sup> इसकी एक हस्तलिखित प्रति श्री ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवान बम्बई में है ।<sup>८६</sup>

चन्द्रकीर्ति के गुरु श्रीभूषण भट्टारक काष्ठासंघीय नंदीतटगच्छ के भट्टारक थे । वाचस्पति गैरोला ने उनकी परम्परा को इस प्रकार बतलाया है—रामसेन > नेमिषेण > विमलसेन > विमलकीर्ति > विश्वसेन > बिद्याभूषण > श्रीभूषण । श्रीभूषण के उत्तराधिकारी के रूप में पद्मकीर्ति का उल्लेख किया है ।<sup>८७</sup> किन्तु प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर ने काष्ठासंघ

नंदीतटगच्छ की परम्परा का इस प्रकार उल्लेख किया है—धर्मसेन > विमलसेन > विशालकीर्ति > विश्वसेन > विद्याभूषण > चन्द्रकीर्ति । प्रो० जोहरापुरकर ने चंद्रकीर्ति का समय वि० सं० १६५४-१६८१ ( १५९७-१६२४ ई० ) माना है ।<sup>१८</sup> इस प्रकार चन्द्रकीर्ति का भट्टारक रहने का समय सोलहवीं शताब्दी का सन्धिकाल माना जा सकता है ।

भारत के धार्मिक जीवन में जिन महान् विभूतियों का चिरस्थायी प्रभाव है, उनमें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का महत्त्वपूर्ण स्थान है । जैन सम्प्रदाय के पूज्य तीर्थङ्कर के रूप में आपके पावन जीवन को जनमानस में प्रचारित करने की भावना से अनेक कवियों ने सभी भारतीय भाषाओं में काव्यों का निर्माण किया है । इनके आकलन से भारत के धार्मिक साहित्य का इतिहास अवश्य समृद्धतर होगा ।

### संदर्भ

१. पार्श्वेशतीर्थसन्ताने पञ्चाशतद्विशताब्दके ।  
तदभ्यन्तरवर्त्यायुर्महावीरोऽत्र जातवान् ॥—उत्तरपुराण ७४।२७९
२. दासप्रतिसमाः किञ्चिद्दनास्तस्यायुषः स्थितिः ।—वही ७४।२८०
३. निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९०९ में प्रकाशित
४. पार्श्वभ्युदय ४।७०-७१
५. इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरुश्रीजिनसेनाचार्यविरचितमेघदूतवेष्टिते पार्श्वभ्युदये.....सर्गः । पार्श्वो० सगन्तिपुष्पिका ।
६. यस्यप्रांशुनरवांशुजालविसरद्धारान्तराविभवंत्,  
पादाम्भोजरजःपिशङ्गमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः ।  
संस्मर्तास्वभोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलम्,  
स श्रीमान्जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मङ्गलम् ॥  
—उत्तरपुराण, प्रशस्तिपद्य ९
७. द्रष्टव्य-तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग २, पृ० ३३७
८. याऽमिताभ्युदये पार्श्वे जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः ।  
स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्ति संकीर्तयत्यसौ ॥—हरिवंशपुराण, १।४०
९. भारतीय इतिहास—एक दृष्टि, पृ० ३०१
१०. द्र०, पार्श्वभ्युदय की श्री पन्नालाल बाकलीवाल लिखित भूमिका, पृ० ७
११. द्र०, पार्श्वभ्युदय, टीकाकार योगिराट् की अन्त्यप्रशस्ति
१२. माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई से वि० सं० १९७३ में प्रकाशित

१३. जिनरत्नकोश, पृ० २४६
१४. द्र०, लेखक का शोधप्रबंध 'वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरित का समीक्षात्मक अध्ययन, अध्याय ३
१५. शाकाब्दे नगवाधिरन्ध्रगणने संवत्सरे क्रोधने  
मासे कार्तिकनाम्नि बुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयादिने ।  
सिंहे पाति जयादिके वसुमतीं जैनीकथेयं मया  
निष्पत्ति गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये ।  
—पार्श्वनाथचरित, प्रशस्तिपद्य ५
१६. द्र०, डॉ० मंगलदेव शास्त्री द्वारा लिखित 'संस्कृतसाहित्य के विकास में जैन विद्वानों का योगदान' लेख, वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३९४
१७. द्र०, जिनरत्नकोश, पृ० २४६
१८. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५३३ की पादटिप्पणी
१९. 'श्रीमद्द्रविडसंघेऽस्मिन् नन्दिसंघेऽस्त्यर्कंगलः । अन्वयो भाति.....'  
—जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेखांक २८८
२०. पार्श्वनाथचरित, प्रशस्तिपद्य १-४
२१. विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य, लेखक का शोधप्रबंध
२२. प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी से १९६५ ई० में प्रकाशित
२३. 'अट्टारहसंधिउ एह पुराणु तेसट्टिपुराणे महापुराणु ।  
सयतिणिण दतोत्तर कडवायहँ णाणाविहछंदमुहावयाहँ ।  
तेतीस सयइँ तेवीसयाइँ अक्खरइँ किपि सविसेससाइँ ।  
एयएत्थु सत्थि गंथहा पमाणु फुडु पयडु असेमु विकयपमाणु ।  
—पासणाहचरिउ, १८।३०
२४. पासणाहचरिउ, संधि १८, कडवक २२
२५. पय-सय णउआणउये कत्तियमासे अमावसीदिवसे ।  
रइयं पासपुराणं कइणा इह पउमणामेण ॥—वही, प्रशस्ति-४
२६. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० १५७, एवम् तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग० ३, पृ० ९७
२७. द्र०, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृ० ९७  
एवम् 'संस्कृतकाव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान' पृ० १७९
२८. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग० ३ पृ० २९
२९. अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ, पृ० ३५
३०. जम्बुसामिचरिउ, १।४-५

३१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृ० १२७
३२. जैन आत्मानन्दसभा भावनगर ( गुजराती अनुवाद सहित ) वि० सं० २००५ में प्रकाशित
३३. जिनरत्नकोश, पृ० २४४
३४. वही; पृ० २४४ एवम् द्र० 'भारतीय संस्कृति के विकास में जैनधर्म का योगदान', पृ० १३५
३५. हस्तलिखित प्रति अग्रवाल दि० जैन मन्दिर मोतीकटरा आगरा में है।
३६. द्र० श्री परमानन्द शास्त्री द्वारा लिखित लेख (अनेकान्त) वर्ष ८, किरण १२
३७. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० १५७
३८. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ० १३९
३९. द्र०, अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ, पृ० १४७
४०. श्री पं० परमानन्द शास्त्री द्वारा लिखित 'अपभ्रंश भाषा का पासचरित और कविवर देवचन्द' लेख, अनेकान्त, वर्ष ११, किरण ४-५, जून-जुलाई-१९५२, पृ० २११-२१२
४१. जैन शिलालेख संग्रह भाग १, लेखांक ५५, पद्य २५
४२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ० १८२
४३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० १२१
४४. जिनरत्नकोश, पृ० २४१
४५. 'रसषिरविसंख्यायां सभायां दीपपर्वणि ।  
समपितमिदं वेलाकूले श्रीदेवकूपके ॥' — पार्श्वनाथचरित जैन सा० का  
बृहद् इतिहास भाग, ६० पृ० १२१ से उद्धृत
४६. वही, पृ० १२१
४७. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, भाग १, पृ० ४१८
४८. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० १२१
४९. वही, पृ० १२३
५०. वही, पृ० १२१
५१. 'श्री सर्वानन्दसूरि भुजगगणेशमीगर्भशुभ्रांशुवर्षे', चन्द्रप्रभचरित्र; प्रशस्ति-  
पद्य-७ ( वही, पृ० ९८ से उद्धृत )
५२. जिनरत्नकोश, पृ० २४५
५३. द्र०, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ९८
५४. श्री यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, बी० नि० सं० २४३८

५५. 'समीक्ष्य बहुशास्त्राणि श्रुत्वा श्रुतधराननात् ।

ग्रन्थोऽयं प्रथितः स्वल्पसूत्रेणापि माया रसात् ॥

—पाश्वर्नाथचरित्र, प्रशस्तिपद्य १५

५६. इतिश्रीकालिकाचार्यसन्तानीयश्रीभावदेवसूरिविरचिते श्रीपाश्वर्नाथचरित्रे  
महाकाव्येऽष्टसर्गे भावाङ्के ..... वर्णतो नाम ..... ।

५७. द्रष्टव्य, पाश्वर्नाथचरित्र, प्रशस्तिपद्य ४-१४

५८. 'श्रीपत्तनाख्यनगरे रविविश्ववर्षे

पाश्वर्प्रभोश्चरितरत्नमिदं ततान ।'—पाश्वर्नाथचरित्र, प्रशस्तिपद्य १४

५९. वही, प्रस्तावना, पृ० २

६०. जिनरत्नकोश, पृ० २३४० एवम् २३१

६१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृ० ३२९

६२. भट्टारक सम्प्रदाय, पृ० १५७-१५८.

६३. रावजी सखाराम दोशी शोलापुर से प्रकाशित

६४. द्र०, अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ, पृ० १४६

६५. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ० २००-२०१

६६. महाकवि रङ्घू के साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० १२०

६७. अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोधप्रवृत्तियाँ, पृ० १४६

६८. 'इगवीर हो णिव्वुइं वुच्छराइं सत्तरिसहुं चउसथवत्थराइं ।

'पच्छइंसिरिणिव विक्कमगयाइं एउणसीदीसहुं च उदहसयाइं ।

भावदतम एयारसि मुणेहु वरिक्केपूरिउ गंथु एहु ।

—अनेकान्त, वर्ष १३, किरण १० ( अप्रेल १९५५ ), पृ० २५२

६९. वही, पृ० २११

७०. अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ, पृ० १४६

७१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ० २१०

७२. जिनरत्नकोश, पृ० २४४

७३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १२०

७४. वही, भाग ६, पृ० ६७.

७५. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृ० ८३

७६. मुनिश्री मोहनलालजी जैन ग्रन्थमाला, सरस्वती फाटक, वाराणसी,

१९१६ ई० में प्रकाशित

७७ इतिश्रीतपागच्छाधिराजभट्टारकसार्वभौमश्रीहीरविजयसूरिश्रीविजयसेनसूरि-  
राज्ये समस्तसुविहितावतंसपण्डितकोटीकीटीरहीर पं० कमलविजयगणि-  
शिष्य भुजिष्यग० हेमविजयगणिविरचिते.....

पार्श्वनाथचरित, सर्गान्तपुष्पिका

७८. 'दृक्कृशानुरससोममितेऽन्दे शक्रमन्त्रिणि दिने द्वयसंज्ञे ।  
हस्तभे च बहुलेतरपक्षे फाल्गुनस्य चरितं व्यरचीरम् ॥  
अनुष्टुभां सहस्राणि त्रीणि वर्णश्चितुर्दश ।  
पष्टियुक्तं शतं चैकं सर्वसंख्यात्र वाङ्मये ॥

—पार्श्वनाथचरित, प्रशस्तिपद्य १४ १५

७९. जिनरत्नकोश, पृ० २४६

८०. जैनसाहित्य और इतिहास, पृ० २६९

८१. 'सांख्यः शिष्यति सर्वथैव किं न वैशेषिको रंकति ।

यस्य ज्ञानकृपाणतो विजयतां सोऽयं विजयचन्द्रमाः ॥

तत्पट्टमण्डनं सूरिर्वादिचन्द्र व्यरीरचत् ।

पुराणमेतत्पार्श्वस्य वादिवृन्दशिरोमणिः ॥

शून्याब्दे रसाब्जांके वर्षे पक्षे समुज्ज्वले ।

कार्तिके मासि पञ्चम्यां वाल्मीके नगरे मुदा ॥

—भट्टारकसम्प्रदाय, लेखांक ८९२, पृ० १८६

८२. जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर से, वि० सं० १९७० में प्रकाशित

८३. 'इतितपागच्छीयश्रीपूज्यश्रीजगच्चन्द्रसूरिपट्टधरपरम्परालंकारश्रीहेमविजय-  
सूरिसन्तानीयश्रीपूज्यगच्छाधिराजहेमसूरिविजयराज्ये पूज्य पं० संचवीर-  
गणिशिष्य पं० उदयवीरगणिविरचिते.....

—पार्श्वनाथचरित, सर्गान्तपुष्पिका

८४. वेदवाणतुंचन्द्राख्यसंख्ये वर्षे वचोऽष्टके ।

मासे च सितसप्तम्यां ग्रन्थोऽयं निर्मितो मुदा ।—वही, प्रशस्तिपद्य ९

८५. जिनरत्नकोश, पृ० २४६-२४७

८६. जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० १२५ पादटिप्पणी ६

८७. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३६३

८८. भट्टारक सम्प्रदाय, पृ० २९९

## शम्बूक आख्यान

‘जैन तथा जैनेतर सामग्री का तुलनात्मक अध्ययन’

श्री विमलचन्द्र शुक्ल

प्राचीन आख्यानों तथा मिथकों का इतिहास-परक विश्लेषण एवं कथा संयोजन के विविध स्तरों तथा अन्तर्भूत परिवर्तनों की बहुविध व्याख्या, व्यवित, सम्प्रदाय एवं काल तथा स्थान विशेष की सांस्कृतिक, धार्मिक तथा समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि के अध्ययन हेतु महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन करती है। घटनाओं के यथार्थ लेखन तथा नग्न चित्रण पद्धति से भिन्न भारतीय मनीषियों एवं लेखकों ने आख्यानों के माध्यम से मानव मूल्यों तथा समकालिक समाज आदर्शों को प्रतिष्ठित करने का छद्म प्रयास किया है। तैथिक परिधि से स्वतंत्र तथा सामाजिक एवं नैतिक मानदण्डों की दृष्टि से अनुपेक्षणीय अनेक आख्यान या तो विचारकों एवं मनीषियों के द्वारा स्व-आदर्शों के पोषण हेतु निर्मित कल्पनाएँ हैं, या पुरा-प्रचलित प्रसंगों के सोद्देश्य परिवर्तित स्वरूप। शम्बूक आख्यान भी इस प्रकार के अनेक आख्यानों में से एक है जिसका उपयोग ब्राह्मण धर्मावलम्बियों, जैनाचार्यों तथा मध्यकालीन भक्तों के द्वारा विविध प्रकार से किया गया है। प्रस्तुत लेख में शम्बूक आख्यान की शल्यक्रिया के माध्यम से सामाजिक परिवेशों, मान्यताओं तथा मूल्यों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

इस कथानक का प्राचीनतम उल्लेख वाल्मीकिकृत रामायण में उपलब्ध होता है।<sup>1</sup> परवर्ती अनेक कवियों ने इसी ग्रन्थ को उपजीव्य स्वीकार कर शम्बूक आख्यान के कलेवर को विस्तृत किया है। वाल्मीकि-रामायण के आधार पर शम्बूक आख्यान को निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

“राम के शासनकाल में एक ब्राह्मण अपने मृत पुत्र को लेकर उपस्थित हुआ और राम की भर्त्सना करने लगा, क्योंकि पिता के जीवित रहने पर पुत्र की मृत्यु, तत्कालीन शासक के राज्य में अधर्माचरण का



प्रमाण उपस्थित करती है। राम ने ब्रह्मर्षि नारद से इसका कारण पूछा। नारद ने शूद्र के द्वारा क्रियमाण तपोनुष्ठान को ब्राह्मणसुत की मृत्यु का कारण बताया। क्योंकि शूद्र को तप करने का अधिकार नहीं था। अतः उसके द्वारा तपस्याचरण धार्मिक कर्तव्यों के उल्लंघन का प्रतीक था। नारद के द्वारा कारण ज्ञात होने पर राम ने शूद्र के अन्वेषण हेतु प्रस्थान किया। क्रमशः उदीच्य, प्राच्य दिशाओं में भ्रमण करने के पश्चात् दक्षिण दिशा में शैवल पर्वत के उत्तर में उन्होंने अधःमुख तपसंलग्न एक व्यक्ति को देखा जो अग्निधूम का आहार करता हुआ तपस्वीन था। तपस्वी के द्वारा यह ज्ञात होने पर कि वह शूद्र-योनि में उत्पन्न शम्बूक संज्ञित व्यक्ति है, राम ने खड्ग से उसका शिरोच्छेद कर दिया।”<sup>२</sup>

महाकवि कालिदास-प्रणीत रघुवंश<sup>३</sup> में शम्बूक का आख्यान वाल्मीकि के आधार पर ही वर्णित है। इसमें भी पिता के जीवित रहते पुत्र की मृत्यु का कारण वर्ण-धर्म-व्यतिक्रम स्वीकार किया गया है जो शम्बूक नामक शूद्र के तपश्चरण के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ था। वर्ण-विक्रिया के लिए उत्तरदायी शम्बूक, शासक राम के द्वारा शिरोच्छेदन के पश्चात् स्वर्ग को प्राप्त हो गया जो उसे तप के माध्यम से कभी न मिलता। भवभूति<sup>४</sup> ने तो उपयुक्त दोनों कवियों की सीमा लाँघकर राम के द्वारा दण्डित किए जाने पर आक्रोश की अपेक्षा शूद्र के ही मुख से उस दण्ड की प्रशंसा भी कराई है।

वर्ण व्यवस्था के पोषक इन कवियों के द्वारा वर्णित शम्बूक आख्यान में अनेक महत्त्वपूर्ण कथ्य ध्यातव्य हैं। शूद्र के द्वारा तपश्चरण को “पापवत्” स्वीकार करने की बलात् चेष्टा इन कवियों के द्वारा की गई है और उस पाप के फल को साकार सिद्ध करने के लिए विप्र पिता के जीवित रहने पर भी पुत्र की मृत्यु का प्रसंग उपस्थित कर दिया गया है। यह विचारणीय है कि वाल्मीकि रामायण में ही अन्यत्र<sup>५</sup> नृप दशरथ के द्वारा पिता और माता के जीवित रहने पर भी पुत्र श्रवण के वध का प्रसंग उपस्थित मिलता है। किन्तु उस स्थल पर पिता के समक्ष पुत्र की मृत्यु का प्रसंग शासन में अधर्माचरण का प्रतीक नहीं स्वीकार किया गया। इन कवियों को शूद्र की तपस्या का प्रतिरोध करना था अस्तु, उन्होंने एक कथानक की उद्भावना कर ली। ब्राह्मण के पुत्र की मृत्यु

तथा उसके द्वारा अधर्माचरण का प्रसंग उपस्थित करना, ब्राह्मण नारद के द्वारा शूद्र की तपस्या को मृत्यु का कारण स्वीकार करना तथा राम अर्थात् क्षत्रिय शासक के द्वारा शूद्र का वध इत्यादि उल्लेख क्या साभि-  
प्राय नहीं हैं ? वर्ण-व्यवस्था के नियमों का अनुपालन तथा ब्राह्मणों को सर्वोच्चता के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने तथा व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने के लिए शम्बूक आख्यान का कलेवर इन कवियों के द्वारा वर्णित किया गया।

जैन साहित्य में भी शम्बूक आख्यान उपलब्ध होता है जिसके आधार रूप में विमलसूरिकृत पउमचरिय<sup>६</sup> के कथानक को स्वीकार किया जाता है। इस ग्रन्थ के आधार पर शम्बूक का आख्यान निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

“रावण की बहन चन्द्रनखा तथा उसके पति खरदूषण से संबुक्क तथा सुन्द नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए थे। देवकुमारों के समान संबुक्क अत्यन्त शोभावान एवं समर्थ था। उसने सूर्यहास नामक खंग की प्राप्ति के लिए क्रौंचरवा नदी के किनारे तथा लवण-समुद्र के उत्तर स्थित भू-क्षेत्र में स्वयं को तप में प्रस्तुत किया। उसकी प्रतिज्ञा थी कि सम्यक्त्व; नियम तथा योग से रहित जो भी व्यक्ति उसकी दृष्टि में आयेगा, उसका वध वह अवश्य करेगा। एक दिन लक्ष्मण भ्रमण करते हुए उस स्थान पर पहुँच गया और कान्तियुक्त सूर्यहास खंग को देकर उसकी तीक्ष्ण धार को परीक्षित करने का निश्चय किया। इस सन्दर्भ में उसने बाँस के संकुल को काट डाला और संकुल में तपःलीन संबुक्क का भी शिर कट गया। ६७८ ई० में आचार्य रविषेण द्वारा रचित पद्मपुराण<sup>७</sup> में भी शम्बूक की कथा पउमचरिय के आधार पर उपलब्ध होती है। इस ग्रन्थ में संबुक्क को एक अन्न खाने वाला, निर्मल आत्मा का धारक, ब्रह्मचारी तथा जितेन्द्रिय कहा गया है।<sup>८</sup> शेष कथा पउमचरिय की अनुकरण मात्र है।

जैन ग्रन्थों में वर्णित शम्बूक आख्यान वाल्मीकि द्वारा प्रस्तुत कथानक की अपेक्षा भिन्न मान्यताओं को अभिव्यंजित करता है। वाल्मीकि और कालिदास शम्बूक के अधःमुख होकर घूम्रपान के सेवन का उल्लेख करते हैं। यह परम्परा जन सामान्य की वस्तु नहीं थी। वाल्मीकि के अनुयायियों ने भी शम्बूक को गृहित सिद्ध करने की चेष्टा की है। इसके

विपरीत जैन साहित्य में उसे सम्यक्त्व, नियम और योग से समन्वित तथा जितेन्द्रिय, ब्रह्मचारी, एक समय भोजन करनेवाला एवं अमलात्मा स्वीकार किया गया है। शम्बूक के द्वारा वर्ण धर्म व्यतिक्रम तथा तद-जन्य पाप और परिमाण में ब्राह्मण सुत की मृत्यु का प्रसंग जैनियों के द्वारा उपस्थित नहीं किया गया है और न ही शूद्र के तपाचरण को राज्य में अधर्म माना गया है। दोनों परम्पराओं में यह अन्तर विविध मान्यताओं तथा दृष्टिकोण वैभिन्य के कारण उपस्थित हुए हैं। वाल्मीकि और कालिदास में वर्ण व्यवस्था के प्रति सचेष्टता तथा आग्रह के अनेक सन्दर्भ देखे जा सकते हैं।<sup>१९</sup> जैन साहित्य में भी बंभव, खत्तिय, वइस्स तथा सुद्ध नाम के चार वर्णों का उल्लेख मिलता है।<sup>१०</sup> किन्तु जात्यो-त्कर्ष अथवा जात्यापकर्ष के परिचायक सन्दर्भों का अभाव सा जैन साहित्य में है। रद्विषेण ने पद्मपुराण में किसी भी जाति को निन्दनीय नहीं स्वीकार किया है। यहाँ तक कि व्रतसंलग्न चाण्डाल भी ब्राह्मण की कोटि में परिगणित किया गया है।<sup>११</sup> यही कारण है कि शम्बूक के द्वारा क्रियमाण तप की भर्त्सना जैनियों को अभीष्ट नहीं प्रतीत हुई। वाल्मीकि और उनके अनुयायियों तथा जैनियों के शम्बूक आख्यान में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि प्रथम परम्परा के अनुसार राम ने शम्बूक का वध किया था। किन्तु जैनियों के अनुसार लक्ष्मण ने। राम दोनों परम्पराओं में नायक के रूप में चित्रित हैं। जैनियों की व्यापक अहिंसा दृष्टि नायक राम के हाथों शम्बूक के तप को सहन नहीं कर सकी, अतः उन्होंने इस कार्य का कर्ता लक्ष्मण को बना दिया।

शम्बूक आख्यान के प्रसंग में अन्य परम्पराओं का भी आलोडन अप्रासंगिक नहीं होगा। आनन्दरामायण<sup>१२</sup> में शम्बूक की कथा निम्न रूप में उपलब्ध होती है—

“राम ने तप क्रियमाण शूद्र शम्बूक के पास पहुँचकर उसे वरदान दिया और शूद्रों की सद्गति हेतु राम नाम का जप और कीर्तन श्रेयस्कर प्रतिपादित किया। शूद्र के द्वारा यह पूछने पर कि कृषि कार्यों में व्यस्त रहकर उन्हें जप कीर्तन करने का समय नहीं मिलेगा, राम ने यह कह कर संतुष्ट किया कि शूद्र लोग एक दूसरे से मिलकर राम-राम कहेंगे तो उनका उद्धार हो जायेगा। तत्पश्चात् राम ने शूद्र का वध कर डाला। इस कथानक में दो तथ्य विचारणीय हैं, प्रथम—शूद्रों के द्वारा कृषि कर्म

का प्रतिपादन प्रतिवादित नहीं रह गया था। इसके पूर्व स्मृतियों तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों में शूद्रों का कर्त्तव्य द्विजातिशुश्रूषा तक सीमित था। कृषि कर्म वैश्यों की सम्पत्ति थी। द्वितीय-राम नाम की महत्ता का प्रतिपादन शम्बूक के कथानक में किञ्चित् परिवर्तन कर इस ग्रन्थ में उपस्थापित किया गया है। आनन्दरामायण की रचना के समय ( लगभग सोलहवीं शताब्दी ) तक भक्ति-आन्दोलन विशेषतः वैष्णव-आन्दोलन प्रमुखता को प्राप्त होने लगा था और उसके परिणामस्वरूप आनन्द रामायण में शम्बूक कथानक में ये परिवर्तन उपस्थित हो गये।

दक्षिण भाषाओं में निबद्ध राम कथा से संबन्धित ग्रन्थों से भी शम्बूक आख्यान उपलब्ध होता है। रंगनाथ रामायण<sup>१३</sup> ( तेलगू में रचित ) तथा कन्नड़ में लिखित तोरवे रामायण<sup>१४</sup> में शम्बूक को सूर्य-नखा का पुत्र तथा लक्ष्मण द्वारा उसके वध की चर्चा आती है। निश्चित रूप से दोनों ग्रन्थों पर या तो पउमचरियं (विमलसूरिकृत) या रविषेण-कृत पद्मपुराण का प्रभाव लक्षित होता है। कन्नड़ कवि कुर्वेयु<sup>१५</sup> द्वारा रचित 'शूद्रतपस्वी' काव्य में वर्णित शम्बूक कथा विचार्य है इसके अनुसार "एक वृद्ध ब्राह्मण अपने पुत्र के साथ शम्बूक नामक तपस्वी के आश्रय में पहुँचा। ब्राह्मण ने अपने पुत्र को तपस्वी के लिए प्रणाम करने से वर्जित कर दिया क्योंकि तपस्वी शूद्र था। इसके परिणामस्वरूप ब्राह्मण बालक की मृत्यु सर्पदंश के कारण हो गई। ब्राह्मण ने राम से उस तपस्वी के वध का अनुरोध किया। राम ने ब्रह्मास्त्र चलाकर तपस्वी का वध करने का प्रयास किया किन्तु उसे कोई क्षति नहीं हुई। फलतः राम ने ब्राह्मण को दोषी जानकर उसे कटु शब्दों में प्रताड़ित किया। अन्त में ब्राह्मण ने उस शूद्र तपस्वी को प्रणाम किया और उसका पुत्र जीवित हो उठा। इस कथानक में स्पष्ट ही तप की महिमा के सम्क्ष ब्राह्मण की उत्कृष्टता तथा शूद्र की निकृष्टता को तिरोहित कर दिया गया है।

इस प्रकार शम्बूक आख्यान के विवेचन से स्पष्ट है कि समय-समय पर इस कथानक का कलेवर सोद्देश्य परिवर्तित, परिवर्धित तथा सीमित किया जाता रहा। यदि वाल्मीकि और उनके अनुकर्त्ताओं ने ब्राह्मणों की सर्वोच्चता के प्रतिपादन हेतु इसका निबन्धन किया तो जैनियों ने समता के भाव को तथा अहिंसा को प्रतिष्ठित करने के लिए इस कथा-

नक का उपयोग किया। अन्य ने राम नाम की महत्ता तथा तप की सर्वोच्चता की स्थापना के लिए इसमें आवश्यक संशोधन उपस्थित किए। अस्तु, शम्बूक आख्यान का आलोडन विभिन्न सामाजिक मान्यताओं धार्मिक दृष्टिकोणों तथा सांस्कृतिक दशाओं का निर्देशन प्रस्तुत करता है।

### संदर्भ

१. वाल्मीकि रामायण (बड़ीदा संस्करण), उत्तर० अ० ६५-६७
२. वही
३. रघुवंश, १५-४३-५६
४. उत्तररामचरित, द्वितीय अंक; तु० पद्मपुराण, सृष्टि खंड, ३३, ६०-१३२
५. वाल्मीकि रामायण, अयोध्या अ० ५७।९-३९
६. पउमचरियं, पर्व ४३
७. पद्मपुराण ( रविषेण कृत ), पर्व ४३
८. वही, पर्व ४३।४६-४७
९. वा० रा०, युद्धकाण्ड, १२८।१०४-१०५; रघुवंश ५।१९, १६।६७
१०. 'जैन आगम में भारतीय समाज' जगदीशचन्द्र जैन, वाराणसी, १९६५; पृ० २२३
११. पद्मपुराण, ११।२०३  
न जाति गहिता काचिद्गुणाः कल्याणकारकम् ।  
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं त्रिदुः ॥
१२. आनन्द रामायण ७।१०।५०-१२२
१३. बुल्के कामिल, 'राम कथा-उत्पत्ति और विकास' प्रयाग, १९७१, पृ० ६१६
१४. वही, पृ० ६१६
१५. मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन ग्रन्थ, कलकत्ता, १९५९, पृ० ७५४

## आचार्य शाकटायन (पाल्यकीर्ति) और पाणिनि

श्रीरामकृष्ण पुरोहित

संस्कृत व्याकरण के रचना की परम्परा बहुत प्राचीन है। अतएव पाणिनि का शब्दानुशासन परवर्ती अनेक व्याकरणों का प्रेरणास्रोत रहा है। इन परवर्ती व्याकरणों में पाणिनि स्पष्ट रूप से परिलक्षित हैं। व्याकरण वाङ्मय में मुख्यतः व्याकरणों की संख्या आठ सुनी जाती है। इस सम्बन्ध में अधोलिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।  
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ हि शाब्दिकाः ॥

कहीं-कहीं यह श्लोक इस रूपान्तर में भी प्राप्त है—

ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम् ।  
सारस्वतं चापिशलं शाकलं पाणिनीयकम् ॥

महर्षि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में अपने पूर्ववर्ती आपिशलि (६।१।८९), काश्यप (१।२।२५), गार्ग्य (८।३।२०), गालव (७।३।२९), चाक्रवर्मण (६।१।१२६), भारद्वाज (७।२।६३), शाकटायन (८।३।१८), शाकल्य (१।१।१६), सेनक (५।४।११२) तथा स्फोटायन (६।१।११२), इन व्याकरणों का नामोल्लेख किया है, किन्तु विद्वानों का मत है कि जिन शाकटायन का पाणिनि ने नाम लिया है, वे सम्प्रति उपलब्ध शाकटायन व्याकरण से भिन्न हैं।

उपलब्ध शाकटायन व्याकरण जैन परम्परा के यापनीय संघ के अग्रणी और प्रसिद्ध आचार्य पाल्यकीर्ति की रचना है। इसका विस्तृत अध्ययन जर्मन् विद्वान् डॉ० आर० विरबे ने भारतीय ज्ञानपीठ, काशी द्वारा १९७१ ई० में प्रकाशित अमोघवृत्ति सहित शाकटायन व्याकरण की अपनी अंग्रेजी प्रस्तावना में प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं कि १८६४ में डॉ० बुहलर को जब आचार्य पाल्यकीर्ति द्वारा विरचित शाकटायन की पाण्डुलिपि का कुछ अंश प्राप्त हुआ तो उन्होंने संस्कृत जगत् को सूचित किया कि उन्हें पाणिनि द्वारा उल्लिखित शाकटायन व्याकरण

प्राप्त हो गया है। किन्तु वस्तुतः यह भ्रम था। बाद में ज्ञात हुआ कि प्राप्त व्याकरण पाल्यकीर्ति ( शाकटायन ) का है।

सम्प्रति उपलब्ध शाकटायन व्याकरण का मूल नाम शब्दानुशासन है। इसके रचयिता का नाम पाल्यकीर्ति प्राप्त होता है। परन्तु ग्रंथ में सर्वत्र ग्रंथकार का नाम शाकटायन ही प्राप्त होता है। इस व्याकरण के 'ख्यातेऽदृश्ये' (४।३।२०८) सूत्र की अमोघवृत्ति में 'अदहदमोघवर्षोऽरातीन' इस उदाहरण के देखने से प्रतीत होता है कि सम्प्रति उपलब्ध शाकटायन व्याकरण की रचना अमोघवर्ष के शासनकाल में हुई होगी। अमोघवर्ष शक संवत् ७३६ ( वि० सं० ८७१ ) तथा नवीं शताब्दी के आसपास राजगढ़ी पर आसीन हुआ था। अतः इसी के आसपास आचार्य पाल्यकीर्ति ने अपने व्याकरण ग्रंथ की रचना की होगी।

उपलब्ध शाकटायन व्याकरण पर अमोघवृत्ति स्वोपज्ञवृत्ति है, आचार्य यक्षवर्मा ने अपनी चिंतामणिवृत्ति में अमोघवृत्ति को अतिमहती तथा शाकटायन की स्वोपज्ञवृत्ति बताया है।

अमोघवृत्ति के प्रारंभ में ग्रंथावतार के विषय में शाकटायन (पाल्यकीर्ति) ने लिखा है—

'परिपूर्णमल्यग्रंथं लघूपायं शब्दानुशासनं शास्त्रमिदं महाश्रमणसङ्घाधिपतिर्भगवानाचार्यः शाकटायनः प्रारभते'

तथा अमोघवृत्ति के समस्त पुष्पिका वाक्यों में शाकटायन का उल्लेख इस प्रकार आया है—

'इतिश्रुतकेवलदेशीयाचार्यशाकटायनकृतौ शब्दानुशासने अमोघवृत्तौ...'  
यहाँ 'कृतौ' का अन्वय अमोघवृत्ति तथा शब्दानुशासन दोनों से है। डॉ० विरवे का सुझाव है कि यदि इन पुष्पिका वाक्यों में 'शब्दानुशासने अमोघवृत्तौ' के स्थान पर 'शब्दानुशासनामोघवृत्तौ' पाठ हो तो पुष्पिका वाक्य में जो अस्पष्टता है वह दूर हो जाती है। उस स्थिति में तनिक भी संदेह की गुञ्जाइश नहीं रहती कि यह वृत्ति स्वयं सूत्रधार की है।

उपलब्ध शाकटायन के 'नप्लुतस्योनिता' (१।१।९९) सूत्र की अमोघवृत्ति में 'ई चाक्रवर्मणस्य' (अ० ६।१।१३०) इत्यप्लुतवद्भावः पतञ्जलेरनुपस्थितार्थः' उद्धरण को देखने से शाकटायन (पाल्यकीर्ति) की पतञ्जलि से भी परिवर्तिता स्पष्ट हो जाती है। अतः उपलब्ध शाकटायन व्याकरण पाणिनि स्मृत शाकटायन से भिन्न है।

महर्षि पाणिनि ने जिन सूत्रों में अपने पूर्ववर्ती जिन आचार्यों का नामोल्लेख किया है, उनके शाकटायन व्याकरण में अधोलिखित तुलनात्मक सूत्र हैं—

पाणिनी	शाकटायन
लङः शाकटायनस्यैव (३।४।१११)	आद्विषो ज्ञेर्जुस् वा (१।४।१०६)
व्योर्लघु प्रयत्नतरः शाकटायनस्य (८।३।१८)	अच्यस्पष्टश्च (१।१।१५४)
त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य (८।४।४९)	न संयोगे (१।१।११९)
वा सुप्यापिशलेः (६।१।९२)	सुपि वा (१।१।९२)
अङ् गार्ग्यगालवयोः (७।३।९९)	ईट् चाजक्षस्द्भ्यः (४।२।२९)
इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य (६।३।६१)	वेकोऽनीशङीयुध्यत्रः (२।२।८२)
ई <sup>३</sup> चाक्रवर्मणस्य (६।१।१३०)	नप्लुतस्यान्तौ (१।१।९९)
ऋतो भारद्वाजस्य (७।२।६३)	ऋतः (४।२।१९१)
इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च (६।१।१२३)	ह्रस्वो वाऽपदे (१।१।७४)
संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनाषे (१।१।१६)	सौ वेती (१।१।१०३)
गिरेश्च सेनकस्य (५।४।११२)	गिरिनदीपौर्णमास्याग्रहायणीजयः (२।१।१५५)
अवङ् स्फोटायनस्य (६।१।११९)	अवोऽच्यनक्षे (१।१।९६)

शाकटायन ने भी जिन सूत्रों में अपने पूर्ववर्ती सिद्धनदी, इंद्र और आर्यवज्र इन तीन आचार्यों का नामोल्लेख किया है, जो पाणिनीय के अधोलिखित सूत्रों के तुल्य है :

शाकटायन	पाणिनीय
ततः प्रागार्यवज्रस्य (१।२।१३)	बहूर्जि प्रतिषेधोवक्तव्यः अन्त्यात् पूर्वं नुममेक इच्छन्ति (७।१।७२ वा०)
जराया उसींद्रस्याचि (१।२।३७)	जरायाजरसन्यतरस्याम् (७।२।१०१)
शेषात् सिद्धनदिनः (२।१।२२९)	शेषाद्विभाषा (५।४।१५४)



इसके अतिरिक्त शाकटायन ने अपने शब्दानुशासन में एकेषाम् तथा अन्येषाम् पदों का भी प्रयोग किया है जो पाणिनीय के नीचे लिखे सूत्रों के समान है :

शाकटायन	पाणिनीय
यङोऽन्येषाम् (१।२।७८)	दधस्तथोश्च (८।२।३८)
द्विरेकेषाम् (४।१।५०)	वा नाम धातूनाम् द्वेभवत् इति वक्तव्यम् (६।१।३ वा०)

आचार्य शाकटायन ने अपने शब्दानुशासन को पाणिनि की अपेक्षा सरल बनाने की कोशिश की है। पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि तीनों ने जिस कार्य को किया है, उसे शाकटायन ने अकेले कर दिखाया है तथा साथ ही पाणिनीय के अवशिष्ट शब्दों की सिद्धि भी बतलाई है। वस्तुतः देखा जाय तो संस्कृत भाषा का कोई भी वैयाकरण शाकटायन की बराबरी नहीं कर सकता चाहे पाणिनी ही क्यों न हों।

शाकटायन व्याकरण के अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि शाकटायन ने अपने समय में उपलब्ध पाणिनीय, कातंत्र, चान्द्र तथा जैनेन्द्र आदि समस्त व्याकरण ग्रंथों का मंथन कर सार अपने शब्दानुशासन में प्रस्तुत किया है, जो शाकटायन की अद्भुत प्रतिभा का परिचायक है।

प्रस्तुत निबंध में शब्दानुशासन की सम्पूर्ण प्रक्रियाओं का ख्याल रखते हुए सम्प्रति उपलब्ध शाकटायन व्याकरण की पाणिनी के साथ तुलना की जायगी और यह प्रयास रहेगा कि शाकटायन व्याकरण में पाणिनि की अपेक्षा कौन सी मौलिकता और विशेषता है एवं व्याकरण की दृष्टि से शाकटायन का विधान कितना उपयोगी है।

सर्वप्रथम पाणिनि और शाकटायन के संज्ञाप्रकरण पर विचार प्रस्तुत है—

संस्कृत व्याकरण के प्रायः सभी ग्रंथों में सर्वप्रथम पारिभाषिक संज्ञाओं का प्रकरण पाया जाता है, जिससे यह लाभ होता है कि आगे आने वाले संज्ञा शब्दों द्वारा संक्षेप में कार्य सम्पन्न हो जाय, वहाँ उनका विशेष अर्थ समझने में कठिनाई न हो। पाणिनी और शाकटायन में भी ऐसे प्रकरण उपलब्ध हैं।

पाणिनि और शाकटायन में प्रयुक्त संज्ञाओं के पारिभाषिक शब्द अधिकांश समान हैं। यथा—संख्या, युव, धातु, अव्यय, अनुनासिक, विभक्ति, समास, संयोग, कर्म, उपसर्ग इत्यादि। परन्तु कहीं-कहीं पर शाकटायन ने नये पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग किया है। यथा—पाणिनि के अङ्ग के लिए प्रकृति, अधिकरण के लिए आधार, वृद्ध के लिए दु, प्रगृह्य के लिए निषेत्र, सवर्ण के लिए स्व, गति के लिए ति, तद्राज के लिए त्रि, घ के लिए ड, गोत्र के लिए वृद्ध, अवसान के लिए विराम, प्रथम के लिए अन्य, मध्यम के लिए युष्मद्; उत्तम के लिए अस्मद् तथा एकवचन; द्विवचन, बहुवचन के स्थान पर एक, द्वि, बहु, आदि को रखा है। इसके अतिरिक्त शाकटायन ने पाणिनि की कर्म-प्रवचनीय, प्रातिपदिक, षड्, संहिता और सत् आदि संज्ञाओं को परिभाषाओं को बिल्कुल ही छोड़ दिया है।

स्वर और व्यञ्जन विधान संज्ञाओं के विवेचन के अनन्तर शाकटायन ने पद, इत्, आख्या, उपसर्ग, घि, वाम्य आदि संज्ञाओं का बहुत ही लाघवपूर्ण विवेचन किया है। पाणिनीय व्याकरण में इस प्रकार के विवेचन का अभाव प्रतीत होता है। पाणिनि तो वाक्य और आख्या संज्ञाओं की परिभाषा देना ही भूल गये। परवर्ती वैयाकरण कात्यायन ने इस भूल को सुधारने का प्रयास किया है। किंतु उन्होंने वाक्य की जो परिभाषा “एक तिङ् वाक्यम्” की है वह भी अधूरी ही प्रतीत होती है। लेकिन शाकटायन ने “तिङ् वाक्यम्” (शा० १।१।६१) ऐसा सूत्र बनाकर वाक्य की स्पष्ट परिभाषा कर दी है तथा इसी सूत्र की अमोघवृत्ति में “इह साक्षात् पारस्पर्येण वातिङन्तस्य विशेषणं प्रयुज्यमानभ्रयुज्यमान वा तेन तिङन्तेन प्रयुज्यमानेनाप्रयुज्यमानेन वा सह वाक्यं भवति” ऐसा अर्थ कर और ही सुस्पष्ट कर दिया है। एवं पाणिनीय के ‘येनांग विकार’ (अ० २।३।३०) तथा ‘तृतीयाविधाने प्रकृत्यादिभ्यः उपसंख्यानम्’ वार्तिक का निवेश करके ‘यद्भेदैस्तद्वदाख्या’ (शा० १।३।१३०) सूत्र रचकर आख्या संज्ञा की परिभाषा देकर अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है। यद्यपि पाणिनी ने ‘क्तादल्पाख्यायाम्’ (अ० ४।१।५१), “वैयाकरणख्यायां चतुर्थ्याः” (अ० ६।३।७) आदि सूत्रों में आख्या शब्द का प्रयोग अवश्य किया है।

पाणिनि ने ‘उपदेशेऽजनुनासिकइत्’ (अ० १।३।२); ‘हलन्त्यन्’

(अ० १।३।३); 'आदित्रिटुडवः' (अ० १।३।५); 'षः प्रत्ययस्य' (अ० १।३।६); "चुटू" (अ० १।३।७), इन पाँच सूत्रों में इत् संज्ञा का निरूपण किया है। किंतु शाकटायन ने 'अप्रयोगीत्' (शा० १।१।५) एक ही सूत्र बनाकर काम चला लिया है। यहाँ पर शाकटायन जैनेन्द्र व्याकरण के 'कार्यार्थोऽप्रयोगीत्' (१।३।३) सूत्र के सन्निकट है। हेम ने भी शाकटायन का ही अनुकरण किया है। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (अ० १।१।३७); 'तद्धितप्रचासर्वविभक्ति' (अ० १।१।३८); 'कृन्मजन्तः' (अ० १।१।३९); 'कत्वातोमुन्कमुनः' (अ० १।१।४०); 'अव्ययीभावश्च' (अ० १।१।४१) इन सूत्रों में अव्ययसंज्ञा का निरूपण किया है; लेकिन शाकटायन ने 'तस्वन्डामधणत्स्यांक्वान्तुन्तिमुङ्सस्वाभास्वरादीन्यव्ययम्' (शा० १।१।३९) ऐसा लम्बायमान सूत्र बनाकर पाणिनि के पाँचों सूत्रों का निवेश कर लिया है। यहाँ पर शाकटायन ने निपात संज्ञा को अव्यय-संज्ञा में ही विलीन कर लिया है अर्थात् चादि को निपात न मानकर सीधा अव्यय मान लिया। यह एक संक्षिप्तीकरण का लघुतम प्रयास है।

पाणिनि का घु संज्ञा विधायक 'दाधा ध्वदाप्' (अ० १।१।२०) सूत्र है। शाकटायन ने इसी संज्ञा के लिए 'दाधाध्वज्' (शा० १।१।२३) सूत्र लिखा है एवं पाणिनि का घ संज्ञा विधायक 'तरसमपौ घः' (अ० १।१।२२) सूत्र है। शाकटायन ने उक्त संज्ञा के लिए 'तौडः' (शा० ३।४।७३) सूत्र निर्देश किया है। इस संज्ञा के कथन में शाकटायन की लाघवपूर्ण दृष्टि है, किन्तु पाणिनि का ही अनुकरण प्रतीत होता है। हाँ घ संज्ञा के स्थान पर शाकटायन ने 'डसंज्ञा' नामकरण कर दिया है। दोनों ही शब्दानुशासकों का एक-सा ही भाव है।

शाकटायन और पाणिनि की संज्ञाओं में एक मौलिक अन्तर यह है कि पाणिनि ने अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को व्यञ्जनविकार माना है। वस्तुतः अनुस्वार नकार या मकार जन्य है। विसर्ग सकार या कहीं रेफजन्य होता है। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय दोनों क्रमशः क, ख और प, फ के पूर्व विसर्ग के ही विकृत रूप हैं। पाणिनि ने उक्त अनुस्वार, आदि को अपने प्रत्याहार सूत्रों में—(वर्णसमाम्नाय) स्वतन्त्र रूप से कोई स्थान नहीं दिया है। परवर्ती पाणिनीय वैयाकरणों ने इसकी बड़ी चर्चा की है कि उक्त चारों को स्वरों के अन्तर्गत माना जाए या व्यञ्जनों के। पाणिनीय तन्त्र के

उद्भट्ट विद्वान् कात्यायन ने स्वर, व्यञ्जन दोनों में ही परिगणित करने का निर्देश दिया है। महर्षि पतञ्जलि ने भी इसका पूर्ण समर्थन किया है। शाकटायन ने 'शषस अं अः×क×पर्' प्रत्याहार सूत्र रचकर अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को व्यञ्जनों में स्थान दिया है। जैनेन्द्र व्याकरण में भी अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, और उपध्मानीय को व्यञ्जनों के अन्तर्गत माना है। यहाँ ऐसा लगता है कि शाकटायन इस स्थल पर पाणिनि की अपेक्षा जैनेन्द्र से ज्यादा प्रभावित हैं। शाकटायन का अनुस्वार आदि को व्यञ्जनों के अन्तर्गत स्वीकार किया जाना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

पाणिनीय व्याकरण के मूलाधार माहेश्वर सूत्र हैं। इन्हें अक्षर समाप्ताय, वर्णसमाप्ताय और प्रत्याहार सूत्र इत्यादि अनेक नामों से जाना जाता है। ये चौदह प्रत्याहार इस प्रकार हैं—

(१) अइउण् (२) ऋलृक् (३) एओङ् (४) ऐओच् (५) ह्यवरट् (६) लण् (७) ञमङणनम् (८) झभञ् (९) घढधष् (१०) जबगङदश् (११) खफछठथचटतव् (१२) कपय् (१३) शषसर् (१४) हल्

शाकटायन व्याकरण में प्रत्याहार सूत्र उपलब्ध हैं। इनका मूलाधार भी पाणिनीय सूत्र ही है। किन्तु पाणिनीय सूत्रों में कुछ वर्ण-विपर्यय करके शाकटायन ने इस प्रकार से प्रत्याहार सूत्रों को बनाया—

(१) अइउण् (२) ऋक् (३) एओङ् (४) ऐओच् (५) ह्यवरलृक् (६) ञमङणनम् (७) जबगङदश् (८) झमघदधष् (९) खफछठथट् (१०) चटतव् (११) कपय् (१२) शषसअंअः×क×पर् (१३) हल्

इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण में चौदह प्रत्याहार सूत्र हैं किन्तु शाकटायन शब्दानुशासन में १३ सूत्र हैं। महाभाष्य के द्वितीय आह्निक में वार्तिकार-कात्यायन ने 'ऋलृक्' सूत्र में लृकार का प्रत्याख्यान किया है। तदनुसार शाकटायन ने 'ऋलृक्' के स्थान पर 'ऋक्' सूत्र रखा है। इस स्थल पर शाकटायन जैनेन्द्र से ज्यादा प्रभावित हैं। पाणिनि ने 'अइउण्' और 'लण्' इन दो सूत्रों में दो बार णकार अनुबन्ध लगाया है। इन दो णकारों का उपादान क्यों किया है? इस पर 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः नद्दि संदेहादलक्षणम्' यह परिभाषा ज्ञापित की है। शाकटायन इस विवाद में नहीं पड़ना चाहते हैं। इन्होंने 'ह्यवरलृक्' इस

प्रकार सूत्र बनाकर णकार के दो बार आने की समस्या का हमेशा के लिए निराकरण कर दिया है। यहाँ पर शाकटायन जैनेन्द्र की अपेक्षा चान्द्र से अधिक प्रभावित हैं।

शाकटायन के प्रत्याहार सूत्रों में इसके अलावा विशेषता यह है कि उनमें 'झमञ्' और 'घढघष्' सूत्र को पृथक्-पृथक् नहीं रखा गया है, किन्तु 'झभघढघष्' एक ही सूत्र बनाकर वर्गों के चतुर्थ वर्गों को एक ही सूत्र में संकलित कर दिया है तथा वर्गों के प्रथम वर्गों के ग्रहण के लिए पाणिनि के 'खफछठकचटतव्' सूत्र को तोड़कर 'चटतव्' पृथक् सूत्र कर दिया है। पाणिनीय वर्णसमाप्ताय की तरह शाकटायन में भी हकार दो बार आया है। पाणिनीय व्याकरण में ४१, ४३, ४४ प्रत्याहार रूप प्राप्त होते हैं किन्तु शाकटायन में मात्र ३८ प्रत्याहार ही उपलब्ध हैं।

पाणिनीय तन्त्र में 'अच् सन्धि', 'हल् सन्धि', 'विसर्ग सन्धि' और 'स्त्रादि सन्धि' ये चार सन्धियाँ स्वीकार की गई हैं, किन्तु शाकटायन तन्त्र में 'अच् सन्धि', 'निषेध सन्धि', 'द्वित्व सन्धि', 'हल् सन्धि' और 'विसर्जनीय सन्धि' ये पाँच सन्धियाँ हैं। दोनों व्याकरणों में सर्वप्रथम अच् सन्धि का ही विधान किया गया है। किन्तु प्रयोगों के आधार पर कहीं-कहीं विषमता दिखलाई पड़ती है। शाकटायन ने 'न' (शा० १।१।७०) सूत्र द्वारा विराम में सन्धि कार्य का निषेध किया है, एवं अविराम सन्धि का विधान मानकर 'न' सूत्र को अधिकार सूत्र स्वीकार किया है। अच् सन्धि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम शाकटायन ने अयादि सन्धि का विधान किया है। पाणिनि में इस सन्धि के लिए 'एचोऽयावायावः' (अ० ६।१।७८) सूत्र है जो शाकटायन के 'एचोऽच्ययवायाव्' (शा० १।१।७१) सूत्र के तुल्य है। इसके उपरान्त शाकटायन ने 'अस्वे' (१।१।७३) सूत्र द्वारा यण् सन्धि का विधान किया है। जो पाणिनि के 'इको यणचि' (अ० ६।१।७७) के समान है। इन स्थलों पर दोनों व्याकरणों का समान भाव है।

शाकटायन ने गुण सन्धि में ऋ के स्थान पर अर् और लृ के स्थान अल् किया है। पाणिनि को इसी कार्य के पृथक् 'उरणरपरः' (अ० १।१।५१) सूत्र लिखना पड़ा है। इस स्थल पर शाकटायन ने एक सूत्र की बचत कर 'इम्येडर' (शा० १।१।१८२) सूत्र में ही उक्त कार्य को सिद्ध कर दिया है।

शाकटायन ने यण् सन्धि के प्रसङ्ग में 'ह्रस्वोवाऽपदे' (१।१।७४)

सूत्र का उल्लेख किया है। इसके द्वारा दधी+अत्र=दधिअत्र, दध्यत्र, नदी+एषा=नदिएषा, नद्येषा आदि रूप सिद्ध होते हैं। पाणिनि में ह्रस्व विधान का नियम नहीं है। यह शाकटायन की अपनी उद्भावना है।

शाकटायन ने प्रकृतिभाव सन्धि को निषेध सन्धि कहा है।

उ, इति, विति; तथा ऊं इति इन रूपों की साधनिका के लिए पाणिनि ने 'उत्रः' (१।१।१७) तथा 'ऊँ' (१।१।१८) ये दो सूत्र लिखे हैं, शाकटायन ने उक्त रूपों को सिद्धि 'ऊंचोत्रः' (१।१।१०४) सूत्र द्वारा कर दी है।

उपैति, उपैधते, प्रष्ठीहः, इन प्रयोगों की सिद्धि के लिए पाणिनि ने 'एत्येधत्युष्मु' (अ० ६।१।८९) सूत्र लिखा है। शाकटायन ने इस स्थल पर 'एजूच्यैच्' (१।१।८३) सूत्र बनाकर सर्वत्र वृद्धि प्राप्त स्थलों पर प्रत्याहार के द्वारा ही कार्य सम्पन्न कर लिया है। यहाँ शाकटायन ने महत्-लाघवपूर्ण दृष्टि का आश्रय लिया है।

'इ इन्द्रं पश्य', 'उ उत्तिष्ठ' आदि प्रयोगों में पाणिनि ने 'निपात एकाजनाड्' (अ० १।१।१४) सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा का विधान कर 'प्लुत प्रगृह्या अचि नित्यम्' (अ० ६।१।१२३) सूत्र से प्रकृति भाव किया। शाकटायन ने 'चादेरचोऽनाड्' (१।१।१०१) सूत्र द्वारा ही उक्त प्रयोगों की साधनिका प्रदर्शित की है।

निषेध सन्धि के अनन्तर ही शाकटायन ने द्वित्व सन्धि का विधान किया है। पाणिनीय तन्त्र में द्वित्व सन्धि पृथक प्रकरण नहीं है, प्रायः अच् सन्धि से लेकर विसर्ग पर्यन्त द्वित्वविधि उपलब्ध होती है। यथा— पाणिनीय व्याकरण में 'प्रत्यङ्ङात्मा', 'कृङ्ङास्ते' आदि प्रयोग सिद्धि के लिये 'ङमो ह्रस्वाद चिङ्मुणित्यम्' (अ० ८।३।३२) सूत्र द्वारा ङमुटा-गमकर उक्त रूप सिद्ध किये हैं किन्तु शाकटायन ने 'ह्रस्वान्ङमः पदान्ते' (१।१।१२३) सूत्र से द्वित्वविधि स्वीकार की है।

शाकटायन और पाणिनि की हल् सन्धि प्रायः समान है किन्तु कहीं-कहीं प्रयोगों की सिद्धि में भिन्न-भिन्न साधनिका प्रदर्शित है। शाकटायन ने 'सम्राट्' शब्द की सिद्धि 'सम्राट्' (१।१।११३) सूत्र द्वारा की है। यहाँ पर शाकटायन ने मकार निपातन से ही ग्रहण कर लिया है जब कि पाणिनि ने 'मो राजि समः क्वौ' (अ० ८।३।२५) सूत्र में इसकी प्रक्रिया

प्रदर्शित की है यद्यपि (११११३) सूत्र के पहले शाकटायन मन्वकारक अनुस्वार का विधान है तो भी उन्होंने अनुस्वार के अभाव की बात नहीं कही। हेम ने भी इस प्रक्रिया का अनुसरण कर शाकटायन का समर्थन किया है।

पाणिनि के “शश्छोडटि” (अ० ८।४।६३) सूत्र पर ‘छत्वममीति वाच्यम्’ यह कात्यायन वार्तिक है। शाकटायन ने इस आधार पर ‘शश्छोडमि’ (११११४) सूत्र ही बना डाला है। इस प्रकार शाकटायन ने कतिपय सूत्र अपने व्याकरण में कात्यायन के वार्तिकों को सूत्र रूप में दर्शाया है—

कात्यायन वार्तिक	शाकटायन
प्रादूहोढोद्वयैष्येषु (६।१।८९७ वा.) एवै चानियोगे पररूपं वक्तव्यम् (६।१।९४ वा०)	प्रस्योढोद्वयूहैष्ये (१११८४) एवेऽनियोगे (१११८७)
ओत्त्रौष्ठयोः समासे वा पररूपं वक्तव्यम् (६।१।९४ वा०)	वौष्ठीतो समासे (१११८८)
हे मपरे वा (अ० ८।३।२६) ययलपरे यवला वा (वा०) नपरे नः (अ० ८।३।२७)	} हिल्ब्यमिन् (११११२)
‘न पदान्ताट्टोरनाम्’ (अ० ८।४।४२) अनाम्नवति नगरीणामिति वक्तव्यम् (वा०)	
अक्षाद् हिन्यां वृद्धिर्वक्तव्या स्वादोरेरिण्योर्बृद्धिर्वक्तव्या, (६।१।८९ वा०)	} स्वैरस्वैर्यक्षीहिण्याम् (१११८५)

इस प्रकार शाकटायन ने अपने शब्दानुशासन में पाणिनि के सूत्रों पर कात्यायन के वार्तिक का निवेश कर ३७२ सूत्र रचकर लाघवपूर्ण दृष्टि को स्वीकार किया है तथा स्वकीय उद्भावना दर्शाते हुए वैज्ञानिक ढंग एवं मौलिकता प्रस्तुत की है।

## मुनिश्री देपाल : जीवन और कृतित्व

डॉ० सनत्कुमार रंगाडिया

पंद्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरणों में विद्यमान मुनिश्री देपाल का प्रचुर प्रमाण में साहित्य उपलब्ध होता है। कवि का अपरनाम देपा बताया जाता है।<sup>१</sup> स्वयं कवि ने अपने लिए 'देप' शब्द का उपयोग किया है।<sup>२</sup> समग्र साहित्य में उनके जीवनविषयक संकेत का अभाव है। सर्वप्रथम श्रावक कवि ऋषभदास ने अपने 'कुमारपाल रास' (सं० १६७०) में उनका उल्लेख किया है—

आगिं जे मोटा कविराय, तास चरण ऋषभाय ।

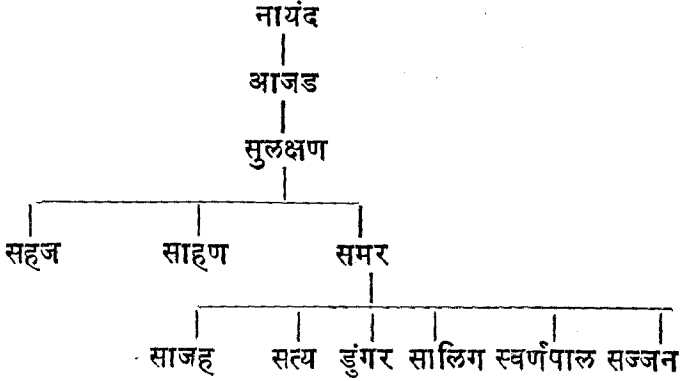
“” हंसराज, वाछो, देपाल, माल, हेमनो बुद्धि विसाल ॥<sup>३</sup>

तपागच्छ आम्नाय के श्री विजयसेनसूरि के समय में श्री कनक-विजयजी के शिष्य श्री गुणविजयजी ने सं० १६८७ में विरचित 'कोचर-व्यवहारी रास' में देपाल के जीवन के संबंध में इस प्रकार संकेत किया है—'गुजरात में स्थित आणहिल्लपुरपट्टण के निकट सलणपुर (शंखलपुर) में वेदोशाह नामक वोशा प्रोग्वाट वणिक था। उनकी पत्नी का नाम बीरमदे और पुत्र का नाम कोचर था। तत्रस्थ बहिचर ग्राम में स्थित बहुचराजी माता के मन्दिर में पशुबलि होती थी। कोचर अत्यंत व्यथित था। कालान्तर में जब कोचर खंभात गया तब देसलहरा साहण श्रेष्ठि से उसका संपर्क हुआ। श्री सुमतिसाधुसूरिजी से प्रेरित साहण ने मुलतान से परामर्श करके कोचर को बारह गाँव का अधिकारी बनवाया जिससे बहुचराजी में अहिंसा स्थापित हुई। उसी समय देपाल दिल्ली से गुजरात आये थे। वे दिल्ली निवासी देसलहरा समरा और सारंग के आश्रित थे।'

१. श्री मो० द० देसाई-जैन गूर्जर कविओ भाग-१ पृ० ३७.
२. श्री देपाल—हस्त प्रत—धन्नाशालिभद्र भाम, जंबुस्वामी चउपई,
३. श्री मो० द० देसाई जैन श्वेताम्बर कॉन्फरन्स हेरॅलड-पृ० ३८५.
४. श्री विजय धर्मसूरि—ऐतिहासिक रास संग्रह-भाग-१ पृ० २-४



‘देसलहरा’ वंश विशेष है। उसी वंश में शिवशंकर की पत्नी देवलदे ने सं० १५१६ चैत्र शुक्ला अष्टमी के दिन उपकेशगच्छीय वाचनाचार्य वित्तसारजी को सुवर्णाक्षरी कल्पसूत्र समर्पित किया था। उसमें प्राप्त प्रशस्ति के अनुसार ‘देसल’ वंश का उल्लेख इस प्रकार है—



उपर्युक्त समर और सहज के पुत्र सारंग का निवासस्थान दिल्ली था। साहण और सज्जन ने वाणिज्य के हेतु खंभात में निवास किया था। शंखेश्वर की यात्रा के समय कोचर के व्यवहार से प्रभावित देपाल ने खंभात में साहण के सन्मुख कोचर की प्रशंसा की। ईर्ष्या-प्रेरित साहण ने कोचर को कैद करवाया। शत्रुंजय यात्रा से लौटते समय जब देपाल खंभात आये तब उक्त समाचार से व्यथित हुए। उन्होंने साहण की आँखें खोलने के लिए इस प्रकार कवित्त बनाया:—

वली लहुचरि केरा पूजारा हरषई मनह मझारि ।

जीव हणाइ घणा महिषादिक तेह तणउ नहीं पार ।

कोचर साहमीवच्छल कीधउं तंइ कुउवंत जि वारि ।

बारे गामे अवली मूँठि राहवी पलइ अमारि ॥

अर्थात् कोचर का अमल नष्ट होने से मंदिर के पुजारी अत्यन्त हर्षित हैं। अब महिषादि का वध होने लगा है। तेरे प्रताप से बारह गाँवों में ‘उलटी मूठ’ से अहिंसा का पालन हो रहा है।

लज्जित हो साहण ने पुनः कोचर को कैद से मुक्त करवाया और देपाल को दान दिया।

प्रस्तुत रास में देपाल को याचक बताया गया है। किन्तु कोचर ने

अन्यत्र उन्हें 'ठाकुर' संबोधन किया है। वस्तुतः 'ठाकुर' भोजक जाति का अद्यावधि सम्माननीय विरुद्ध है। श्री देपाल, वर्तमान भोजक जाति के आद्यगुरु माने जाते हैं। गुजरात के सीमान्त प्रदेश में स्थित 'थराद' भोजकों का आदिस्थान माना जाता है। किसी समय यहाँ के जैन अत्यंत ऊधम मचानेवाले थे। कोई भी जैनाचार्य चातुर्मास व्यतीत करने के लिए थराद को पसन्द नहीं करते थे। देपाल ने प्रतिबोध देने के हेतु हिम्मतपूर्वक इसी स्थान को चुना। ग्राम प्रवेश से पूर्व एक चादर में ईंटें बाँध लीं। उपाश्रय में जाकर बड़े पिटारे में बंद कर दीं। प्रतिदिन धार्मिक प्रवचन में प्रायः गपशप करते रहे और उन पुस्तकों के सम्बन्ध में मौन रहे, जो पिटारे में बंद थीं। जैनों की जिज्ञासा को चातुर्मास की अवधि तक बढ़ाये रखा। अन्ततः रहस्योद्घाटन करते हुए कहा 'आप लोगों के लिए ये रोड़े ही तो ज्ञान हैं!' लोगों ने क्षमा-याचना करते हुए धर्म में 'सुमति का वारा किया।

प्रतीत होता है कि देपाल मस्त प्रकार के धर्मोपदेशक थे। उनका स्वाभिमानी फन्नकड़ व्यक्तित्व उनके साहित्य में सर्वत्र परिलक्षित होता है। कथा-काव्य में वाक्चातुर्य दर्शनीय है। नाट्यात्मक शैली उनकी मौलिकता है। उनके ५० वर्ष पश्चात् विरचित 'कोचर व्यवहारी रास' में स्थान-स्थान पर 'वाचाल', 'बुद्धिनिधान', 'कविराज' आदि विशेषण प्रयुक्त हैं। उनकी प्राचीनतम कृति 'थूलभद्र फाक' सं. १४७३ में लिपि बद्ध है, अतः सिद्ध है कि इसकी रचना सं. १४७३ पूर्व हुई थी। अहमदाबाद निवासी पंडित अ० मो० भोजक के निजी संग्रह में देपाल के हस्ताक्षर में एक कृति लिपिबद्ध प्राप्त होती है। पंडित सोमचंद्रकृत 'वृत्तरत्नाकर-वृत्ति' संवत् १५१८ में 'ठाकुर देवालेन' लिखित है। अतः देपाल के जीवनकाल को १५वीं शती के अन्तिम चरण में मानने में कोई आपत्ति नहीं है उनकी सभी रचनाएँ अन्य लिपिकार द्वारा लिपिबद्ध हुई हैं, अतः उनके जीवनकाल में ही ये कृतियाँ अधिक जनप्रिय रही होंगी। अध्येता ने अहमदाबाद, बड़ौदा, जोधपुर आदि स्थानों में परिभ्रमण करके उनकी २५ कृतियों का पता लगाया है और अनेक कृतियों की प्रतिलिपियाँ की हैं।

**रचनाएँ—**श्री देपाल की विपुल साहित्य सामग्री एकाधिक जैन भंडारों में उपलब्ध है, यथा—जावडभावड रास, अभयकुमार श्रेणिक रास, जीरापल्लि पाश्वनाथ रास, भीमसिंह रास, चंदनबाला चउपई, जंबु स्वामी

चलपई धूलभद्र काक, थूलभद्र भास, धन्ना शालिभद्र भास, कल्पसूत्र भास, नउकार भास, गौतमस्वामी भास, आर्द्रकुमार विवाएलु (अपूर्ण), नेमिनाथ विवाहलो, आदि । इनके अतिरिक्त गीत, स्तवन आदि यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं, यथा— थावच्चासुत गीत, वेड़ली गीत, पालीयताणा गीत, खरतरवसही गीत, थुलभद्र गीत, काया बेडी स्वाध्याय, शत्रुञ्जय गिरिवर फूलडां, समरा सारंग कडखो, शाश्वत् जिन स्तवन, स्नात्रविधि, हरियाली स्तवक आदि ।

देपाल के साहित्य के परिशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विभिन्न काव्य प्रकार के निर्माता का प्रमुख उद्देश्य धर्म प्रचार था । जैन धर्म में मूलतः चार अनुयोग हैं; यथा, कथानुयोग, द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग और गणितानुयोग । देपाल साहित्य में इन चारों अनुयोगों का न्यूनःधिक वर्णन यत्र-तत्र उपलब्ध होता है । कथानुयोग के अन्तर्गत ऐतिहासिक और कल्पित कथा पद्धति प्राप्त होती है । अतः अधिक सुविधा के लिए निम्नलिखित विभाजन उचित होगा ।

(अ) गणितानुयोग पर आधारित रचनाएँ जिनमें स्थान विक्षेप का भौगोलिक वर्णन प्राप्त होता है । 'जीरापल्लि पाशर्वनाथ रास'<sup>५</sup> में सिरोही स्थित जैन तीर्थ का वर्णन है । मालव, मारवाड़, सिध, सोरठ आदि की श्राविकाएँ तीर्थयात्रा में सम्मिलित होती हैं । प्रत्येक अपने-अपने प्रदेश की विशेषताओं का वर्णन करती हैं । अंत में नागोर की श्राविका उनके पारस्परिक विवाद को समाप्त करके सबको प्रभुपूजा में लीन कर देती है । नाट्यात्मक शैली इस कृति की प्रधान विशेषता है । शत्रुञ्जय तीर्थयात्रा से प्रभावित होकर उन्होंने पालीयताणा का सुन्दर वर्णन किया है—

पालीयताणऊँ विमल ताल जूनउगढ गिरनारि ।

ललत सरोवर विमल गिर ऊजिल सोवनरेष ।

वारुद वाडीय विमलगिरे ऊजिल सवि वनराय ।

विमलगिरि निर्मलजल ऊजिल गणपति गंग ।

—शत्रुञ्जय गिरिवर फूलडां

थंभि थंभि तिहाँ पूतलीय हसंत रमंत खेलंती दीसइ ।

—खरतर वसही गीत

५. संपा० श्री अगारचन्द नाहटा, मद्रास, वर्ष २, अंक ३, पृ० ५१-५५.

(आ) दान, शील, तप, भावना, नैतिक उपदेश आदि की प्रधानता लेकर चलनेवाली रचनाएँ स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध नहीं हैं। यथावसर उन्होंने कथावस्तु में सुन्दर उपदेश गुम्फित किया है यथा—

पाणी तणइ वियोगि कादम जिम फाटइ हीउँ ।

तिम जइ माणस होइ साचा नेह पतीजइ ।

जे सूर जे पडिया ते गरुआ गुणधीर ।

नारी तेवि नचाविआ जे नर बावनधीर ।—चंदनबालाच उपई

मृगलां बहु पेषंतडां सीह पडी मृग लेइ ।

मरण सीह तिम जीवनइ अणची तितुँ दुख देइ ।

—जंबुस्वामीच उपई

आप सवारथ वल्लहुँ नवि वल्लहुँ पर कज्ज ।

सुमिणंतर सोहामणउँ भइ परि पामिउँ अज्ज ॥

—अभयकुमार श्रेणिक रास

भारतीय आदर्श नारी का प्रणय किसी एक को समर्पित होता है। उसके मन में पति आकाश के समान है। चन्द्र, तारा, जलधर आदि को आश्रय देनेवाले आकाश की भाँति पतिरूप आकाश के आश्रय में परलवित्त होना उसे अधिक पसन्द है—

मइ परिणिइ तू केहुउ लाभ जेवहुउ माथा ऊपरि आभ ।

आभ आधारि चंद जसू आभ आधारि जलहर पूर ।

आभ आधारिइ तारा वसइ आभ प्रमाणि कोई नवि भवइ ।

—अभयकुमार श्रेणिक रास

यदि 'कन्या विक्रय करइ जि कोइ, रोम संख तस हत्या होइ' कहकर समाज में नारी का स्थान निर्देश किया तो दूसरी ओर नारी प्रतिष्ठा भी निरूपित की गई है। विवाह से विमुख भावड सुललित के सामने स्त्री की निंदा करते हुए पुरुष की सर्वोपरिता सिद्ध करता है, तो सुललित स्त्री की सर्वोपरिता सिद्ध करके उसे मौन कर देती है—

जनम लगइ स्त्री करइ उपगार आप वडइ राषीउ मरारि ।

वासुदेव जिण चक्का हिवइ स्त्री कूषइ ऊपन्ना सवइ ।

जे जगि जंपई स्त्री चरित्र तेता सरसति ग्रंथ पबित्र ।

जे नर मरइ ते सुणि आचार छंडइ हाराहार सिणगार ।

नारि सरिसउ नर नवि मरइ नवि आभरण अंगि ऊतरइ ।

—जावड भावड रास

सुललित का प्रतिवाद इतना सबल है कि उसका प्रत्युत्तर आज भी देना असम्भव है ।

‘संसार समुद्र अपारो’ आधि व्याधि उपाधि से पूर्ण है । तीव्र प्रलोभन सहित आत्मा अपनी यात्रा का प्रारंभ करती है । लेकिन—

माहि मगर पंचवीस तणउ भक्त, योवनि वेलुस वाजइ ।

ज्वरा तणइ आह लिइ तुहउ तन तृष्णा गुणि गाजइ ।

—कायाबेडी स्वाध्याय

यौवन के वेणुनाद के पश्चात् जरावस्था चुपचाप आ जाती है, तब ‘उदणु’ रूप जीव खिन्न हो जाता है । ‘शकरो’ रूप कुटुम्ब इस कोतुक को सविनोद निस्सहाय देखा करता है जिससे क्रोधरूपा अग्नि में वह जलता रहता है और विश्वानर रूप जीव विषयादि से कांप उठता है । जरावस्था का सुन्दर चित्रण दर्शनीय है—

नीमा धोवइ उदण रोवइ शकरो त्रिठो कोतिग जोवइ ।

आगि बलि अंगीठो तापइ विश्वानर बइठो ताढि कंपइ ॥

—हरियाली स्तवक

इसलिए इस काया रूप नौका का मुख्य स्तंभ दृढ़ होना चाहिए । शील तथा मुकृत से सब को सजाना होगा । पंचेन्द्रिय रूप पाँच पाटियों से निर्मित इस नौका की प्रशंसा या अप्रशंसा क्यों की जाय ? आंतरिक नाविक ही ‘निरञ्जन स्थान’ पर पहुँचाने में असमर्थ है—

बेडली पाँच जि पाहियाँ बंधति साढी कोडि ।

बेलां पंच षलासीया म वषाणिसि म वषोडि ।

बंध षंभ दृढ चाहीइ जालवणी परवाण ।

शील मुकृत सिढ छांहडी विनउ विवेक सुंथाण ।

इक मालिम इस नाहउ एक राउ अंतरि राउ ।

तिह नायक नित निउ छणां निपुण निरंजन ठाउ ।—बेडली गीत

किन्तु सदगुरु ही नौका पार कर सकते हैं—

सुहगुरु समरथ सुखदातार सुहगुरु बरु दुख फेडणहार ।

सुहगुरु दुरगति उधरइ मुगतिपंथ नईं पुहता करइं ।

कल्पसूत्र तथा नमस्कार मंत्र का माहात्म्य क्रमशः कल्पसूत्र भास और नउकार भास में निरूपित है ।

(इ) कथानुयोग पर आधारित रचनाएँ—जिनके कथातत्त्व और लौकिक दो प्रभेद होते हैं । (१) ऐतिहासिक कथातत्त्व के अन्तर्गत तीर्थंकर, महामुनि, विवाहवर्णन, चक्रवर्ती राजा, तीर्थोद्धारक श्रावक

और राजा आदि समाविष्ट हैं। (२) लौकिक आदि के प्रसंगों को उपजीव्य बनाकर चलनेवाली रचना यथा अभयकुमार श्रेणिक रास।

‘रास’ नामक रचनाएँ नृत्य सहित गाई जाती थीं और उनका सस्वर पाठ होता था। पंद्रहवीं शती तक जैन रासों का स्वरूप निर्माण हो रहा था। तेरहवीं शती में विरचित रासों में धार्मिक स्थलों की प्रशस्ति होती थी। चौदहवीं शती के रासों में पौराणिक और काल्पनिक कथाओं का समावेश होने लगा। पंद्रहवीं शती के रास के वस्तुतत्त्व में लोककथाएँ निजंधरी कथाएँ और जनविश्वास प्रचुर मात्रा में प्रविष्ट हुए। ये रचनाएँ वस्तु संगठन, वर्णन-विस्तार, शैली तथा कथानिरूपण की दृष्टि से प्रबन्ध की कोटि में आ जाती हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार जिस प्रकार ‘विलास’ नाम देकर चरित काव्य लिखे गए, ‘रूपक’ नाम देकर चरितकाव्य लिखे गए, ‘प्रकाश’ नाम देकर भी चरितकाव्य लिखे गए, उसी प्रकार ‘रासो’ या रासक नाम देकर भी चरितकाव्य लिखे गए।<sup>६</sup> देपाल ने ‘चंदनबाला चउपई’ को चरित्र कहा है।<sup>७</sup> ‘जंबूस्वामी चउपई’ का भी यही हाल है।

‘जंबूस्वामी चउपई’ (लि.सं. १५७४) में भगवान् महावीर के पट्टशिष्य गणधर सुधर्म प्रमुख शिष्य जंबूस्वामी का चरित्र-चित्रण किया गया है। जंबूस्वामी जैन धर्म के महामुनि हैं। उनके पश्चात् किसी भी श्रमण को निर्वाण पद प्राप्त नहीं हुआ। यौनावस्या में अनिच्छा होते हुए भी जंबूस्वामी ने आठ कन्याओं का पाणिग्रहण किया। इतने में प्रभव चोर चोरी करने के हेतु प्रविष्ट हुआ। चोर समेत आठ पत्नियों को प्रतिबोधित करके सभी सुधर्म से दीक्षित होते हैं।

‘चंदनबाला चउपई’ (लि. सं. १५९०) में चंदनबाला का चरित्र-चित्रण किया गया है। जैन धर्म में सती श्राविकाओं में चंदनबाला का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इसका कथानक भगवान् महावीर के जीवन से सम्बद्ध है। जैन आगमों से लेकर अद्यावधि चंदनबाला के विषय में विपुल साहित्य उपलब्ध होता है। देपाल ने परंपरागत कथा का अनुसरण किया है।

‘भीमसिंह रास’ में दानवीर भीमसाह का संक्षिप्त चरित्र वर्णित है। वि. सं. १३७६ में दुर्भिक्ष के समय गुर्जर भीम शाह ने दान कर्म से अनेक

६. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ६०-६१.

७. चंदनबाल चरित्र भण् ब्रधिमान रसाल ॥ १ ॥

लोगों के जीवन की रक्षा की थी। आबू पर्वत पर स्थित भीमसिंह प्रासाद अद्यावधि वर्तमान है।

‘अभयकुमार श्रेणिक रास’ ( लि. सं. १५३९ ) का पूर्ण परिचय लेखक द्वारा ‘श्रमण’ में प्रकाशित किया गया।<sup>८</sup> इसकी पद संख्या ३२१ है। आकार की दृष्टि से यह सुदोर्घ कृति है। अभयकुमार प्रखर बुद्धि के लिए प्रसिद्ध हैं। इसके पिता प्रसिद्ध मगधपति श्रेणिक भगवान् महावीर के समकालीन हैं। अभय कुमार के सम्पूर्ण जीवन पर आधारित प्रस्तुत कृति, काव्य सौष्ठव तथा रस की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। तत्कालीन विकासात्मक भाषा के अध्ययन के लिए प्रस्तुत कृति निस्संदेह उपादेय है।

‘थुलिभद्द काक’ ( लि. सं. १४७३ ) में ककहरा शैली में ‘स्थूलिभद्र-कोसा’ के प्रसंग को ३६ पदों में निरूपित किया गया है। प्रस्तुत कृति देपाल की सर्वप्रथम रचना होने से भाषा दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। एक उदाहरण समुचित होगा—

जर रक्खसि जव आविसिइ नव नासेसि ने हो ।

पणउ ता जाणीअए जाँ लगि जोवणु एहो ॥ १० ॥

झलहलंत कंचण रयणहउं नवि भागउं हव ।

झाण मिसिइ पाखंड प्रिय तउं मन मंडिसि देव ॥ ११ ॥

टगमग जोइसि रहण प्रिअ रहीआ च्यारइ मास ।

टाले विण सवि आखडोअ पूरिसु मम मनि आस ॥ १३ ॥

इसके अतिरिक्त ‘थुलभद्द भास’ तथा ‘थुरुभद्द गीत’ भी उलब्ध है। वस्तुतः भास सर्गसूचक शब्द है। संस्कृत महाकाव्यों की सर्गबद्ध शैली के समान अपभ्रंश प्रबन्ध काव्य अनेक सन्धियों में विभक्त होते हैं। प्रत्येक सन्धि में एकाधिक कड़वक मिलते हैं। कालान्तर में कड़वक का स्थान ‘ठवणी’ तथा ‘भास’ ने ग्रहण किया। ‘धन्नाशालिभद्द भास’ तथा ‘गौतमस्वामी भास’ गीत ही हैं। आर्द्रकुमार पर आधारित अपूर्ण कृति ‘आर्द्रकुमार विवाहलु’ तथा नेमिनाथ का स्वरूप वर्णन ‘नेमिनाथ विवाहलो’ में प्राप्त होता है।

वस्तुतः पंद्रहवीं शती के प्रमुख जैन कवियों में देपाल का स्थान अग्रगण्य है। कथावस्तु, काव्यसौष्ठव, भाषा एवं शैली की दृष्टि से देपाल का साहित्य महत्त्वपूर्ण है। गुजरात के इस प्रतिभावान् जेनाचार्य के साहित्य का अन्वेषण-अनुशीलन विस्तृत संशोधन की प्रतीक्षा में है। ●

८. देखिए, लेखक का लेख-अभयकुमार श्रेणिक रास, श्रमण, वर्ष १९ अं १०-११

## मेरुतुङ्ग के जैनमेघदूत का एक समीक्षात्मक अध्ययन

श्री रविशंकर मिश्र ( शोधछात्र )

दूतकाव्य विधा के साहित्य ने संस्कृत-साहित्य में गीति-काव्य ( Lyric Poetry ) के अभाव की पूर्ति की है। दूत-काव्य विरह या विप्रलम्भ शृङ्गार की पृष्ठभूमि लेकर लिखे गये हैं। इनमें नायक द्वारा नायिका के प्रति या नायिका द्वारा नायक के प्रति किसी दूत के माध्यम से भेजा गया सन्देश चित्रित होता है। दूत का कार्य कोई पुरुष, पक्षी, भ्रमर, मेघ, पवन, चन्द्रमा, मन या शील आदि तत्त्वों से कराया जाता है।

इस शैली में दो तत्त्व देखे जाते हैं—एक वियोग और दूसरा प्रकृति या भावना का मानवीकरण। यद्यपि प्रसंगवशात्, दूत-काव्यों में नगर, पर्वत, नदी, सूर्योदय, चन्द्रोदय, रात्रि, वसन्त, जलक्रीड़ा आदि का वर्णन रहता है; पर वह इतना संक्षिप्त होता है कि काव्य बड़े आकार का बन ही नहीं पाता है। इसीलिए इन्हें गीति-काव्य के साथ ही खण्ड-काव्य भी कहते हैं।

वैसे तो भावनाक्रान्त मानस द्वारा प्राणि विशेष को दूत बनाकर प्रेयसी के पास सन्देश भेजने की सूझ प्राचीन साहित्य में भी मिलती है, जैसे—सरमा-पणि सगवाद ( ऋग्वेद १०।८।१०।१-११० )। पर, महाकवि कालिदास का मेघदूत इसका अनोखा उदाहरण है। संस्कृत के दूत-काव्यों की रचना में यही मेघदूत सबसे अग्रणी है। बाद के दूत काव्यों की रचना में उक्त काव्य से सहायता ग्रहण करने के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। कालिदास ने मेघ-सन्देश में काव्य का जैसा विभाजन एवं कथावस्तु का जैसा तारतम्य रखा है, वह इतना मनोवैज्ञानिक है, व्यवस्थित है कि बाद में सभी काव्यों में उसका पूर्णतया अनुकरण किया गया है। कालिदास ने अपने सन्देश-काव्य द्वारा सन्देश-काव्यों का एक नवीन ही शिल्प-विधान निर्धारित कर दिया जो आगे चलकर परवर्ती कवियों



के लिए एक आदर्श-सा हो गया और उन्हें सन्देश-काव्यों के लिखने में मार्ग-प्रदर्शन करता रहा है।

दूत-काव्य विरह की ही पृष्ठभूमि को लेकर रचे गये हैं। उन प्राचीन ग्रन्थों में भी जिनमें कि सन्देश-काव्यों के आदि-तत्त्व पाये जाते हैं, प्रेय अथवा विरह के प्रसंग में ही दूत द्वारा सन्देश-प्रेषण का वृत्तांत उपलब्ध होता है। घटकपंर काव्य तथा मेघ-सन्देश जिनमें सन्देश-काव्य का प्रारम्भिक एवं पूर्ण विकसित रूप क्रमशः उपलब्ध होता है, विरह के ही प्रसंग को लेकर रचे गये हैं। साहित्यशास्त्र में विरह की जितनी काम-दशाएँ बताई गई हैं उन सबका सन्देश-काव्यों में बड़ा क्रमिक एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन प्राप्त होता है। विरह का जैसा सर्वाङ्गीण वर्णन इन सन्देश-काव्यों में प्राप्त होता है वैसे अन्यत्र कहीं भी देखने में नहीं आता है। अतः दूतकाव्य अपने मूलरूप में शृंगार-रस प्रधान ही है। यद्यपि इस प्रकार के प्रणय-संदेश का जनसाधारण से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं फिर भी सहृदय पाठक कवि के विचारों को हृदयङ्गम कर अपने जीवन में इसका सदुपयोग कर ही सकते हैं। स्वयं कालिदास ने यक्ष द्वारा मनुष्य-मात्र के जीवन के चिरन्तन सत्य की ओर संकेत किया है। प्रायः दुख के समय मनुष्य घबरा उठता है, हताश हो जाता है। ऐसे ही अवसर पर मेघ संदेश की यह पंक्तियाँ—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकांततो वा ।

नीचगच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥

दुःखाशर में निमग्न प्रत्येक मनुष्य के लिए बड़ा साहस देनेवाली है।

मेघ संदेश के अतिरिक्त अन्य संदेश-काव्यों में भी जीवन संबंधी कुछ विशिष्ट अनुभूतियाँ देखने में आती हैं। कवियों ने अपने दूत-काव्यों में तत्तत् स्थानों पर बड़े गम्भीर विचार पाठकों के सामने रखे हैं। जैन-मनीषियों द्वारा एक नवीन उद्देश्य को लेकर ही कुछ संदेश-काव्य रचे गये हैं। शृङ्गार-रस के वातावरण में चलनेवाली काव्य-परम्परा को उन्होंने अपनी प्रतिभा से धार्मिक रूप देकर एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया है। त्याग प्रधान जीवन में पूर्ण विश्वास करनेवाले जैन मुनियों ने अपनी संस्कृति के उच्च-तत्त्वों तथा पार्श्वनाथ और नेमिनाथ जैसे महापुरुषों के जीवन-चरित्र अपने संदेश-काव्यों में अंकित किये हैं। इस प्रकार अञ्जलगच्छीय आचार्य मेस्तुङ्ग ने नेमिनाथ के जीवन-चरित्र को

लेकर अपना जैनमेघदूत लिखा। वैसे जैन काव्य-समाज में मेरुतुंग नाम के दो-तीन विद्वान् हुए हैं। उनमें से ग्रन्थकार के रूप में केवल दो ही मेरुतुंग प्रसिद्ध हुए हैं। एक मेरुतुंग जो चंद्रप्रभसूरि के शिष्य हैं और जिनकी समय-मर्यादा विक्रम की चतुर्दश शताब्दी है। इन्होंने महापुरुष चरित, थेरावली, षट्दर्शनविचार आदि अनेक ग्रंथ लिखे हैं। जैन-साहित्य में यह विद्वान् भी आचार्य मेरुतुंग के नाम से विख्यात हैं। दूसरे मेरुतुंग अञ्चलगच्छीय महेन्द्रप्रभसूरि के शिष्य हैं। यह द्वितीय मेरुतुंग आचार्य ही 'जैनमेघदूत' नामक काव्य के रचनाकार हैं। इनका काल विक्रम की पञ्चदश शताब्दी निर्धारित है।

मारवाड़ में स्थित नाणी ग्राम के पोरवाल वंशीय वहोरा वैरसिंह की पत्नी नीलदेवी के गर्भ से वि० सं० १४०३ में इस काव्यकार का जन्म हुआ। वस्तिक, वस्तो या वस्तपाल इसका बचपन का नाम था। अञ्चलगच्छ के प्रसिद्ध आचार्य श्री महेन्द्रपालसूरि से वहोरा वस्तिक ने दीक्षा ली, तब इस बालक का नाम 'मेरुतुंग' रखा गया। कालक्रम से उसके चरित्र, ज्ञान और क्रियाओं का जब पूर्ण विकास हो चुका, तब उसके गुरु ने वि० सं० १४२६ में उसे पाटन में 'सूरि' पद प्रदान किया। वि० सं० १४४५ फाल्गुन वदी एकादशी को उसे 'गच्छ-नायक' की भी पदवी प्राप्त हुई। गच्छ और अपने संग पर उसका अच्छा प्रभाव था। यह बात उसके बाद की कुछ टिप्पणियों से भी ज्ञात होता है। वि० सं० १४७१ मार्गशीर्ष सुदी पूर्णिमा के दिन पाटन में इस विद्वान् का स्वर्गवास हो गया। इस प्रकार अपने ६८ वर्ष के दीर्घ जीवन-काल में यह विद्वान् सर्वदा अपने और अपने समाज के विकास में ही लगा रहा। अञ्चलगच्छ की पट्टावली तथा उसके रास इत्यादि से लेखक के सम्बन्ध में उपरितन निर्णय न हो सका।

इस कवि ने जैनमेघदूत काव्य के अतिरिक्त सप्ततिकाभाष्य, लघुशत-पदी, धातुपारायण, षड्दर्शन-समुच्चय, बाल-बोध व्याकरण, सूरिमन्त्र-कल्पसारोद्धार आदि अन्य ग्रन्थों को भी रचा है। कवि ने प्रायः प्रत्येक ग्रन्थ के अन्त में प्रशस्ति दी है, पर उसके रचना-काल का विवरण कहीं भी नहीं दिया है। इससे प्रत्येक ग्रन्थ का काल-निर्धारण अति कष्टसाध्य है। आचार्य ने इस मेघदूत के अन्त में तो ग्रन्थकार के रूप में अपना नाम भी नहीं दिया है, पर सप्ततिका-भाष्य की वृत्ति को प्रशस्ति में

अपने रचित ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए कवि ने इस मेघदूत का भी नाम लिया है—

काव्यं श्री मेघदूताख्यं षड्दर्शन-समुच्चयः,  
वृत्तिर्बालावबोधारूपा धातुपारायणं तथा ।  
एवमादि महाग्रन्थनिर्माण परायणाः,  
चतुराणां चिरं चेतश्चमत्काराय येऽन्वहम् ॥

नेमिनाथ और राजीमती ( राजुल ) के ही प्रसंग को लेकर आचार्य ने इस दूत-काव्य को रचा है पर इसमें कवि ने दूसरे दूत-काव्यों के समान मेघदूत को समस्या-पूति का आश्रय नहीं लिया है। मात्र नामसाम्य ही है। रचना, शैली, विभाग आदि में यह दूत-काव्य पूर्ण स्वतन्त्र है। इस दूत-काव्य में चार सर्ग हैं तथा प्रत्येक सर्ग में क्रमशः ५०, ४९, ५५ एवं ४२ पद्य हैं। इस प्रकार कुल १९६ पद्यों से यह दूत-काव्य सजा-सँवरा है।

नेमिकुमार ( २२वें तीर्थंकर ) पशुओं का करुण-क्रन्दन सुनकर वैवाहिक वेश-भूषा का परित्याग कर मार्ग से ही रैवतक (गिरनार) पर्वत पर मुनि बनकर तपस्या के लिए चले जाते हैं।

राजीमती जिसके साथ उनका विवाह हो रहा था, उक्त समाचार सुनकर मूर्च्छित हो जाती है। सखियों द्वारा उपचार किये जाने पर उसे होश आता है। होश आने पर राजुल ने अपने सामने आकाश में उपस्थित मेघ को, अपने विरक्त पति का परिचय देकर प्रियतम को शान्त करने, रिझाने के लिए दूत के रूप में चुना और अपनी दुःखित अवस्था वर्णन कर अपने प्राणनाथ को भेजनेवाला सन्देश सुनाया। इस सन्देश को सुन सखियाँ राजीमती को समझाती हैं कि नेमिकुमार मनुष्य-भव को सफल बनाने के लिए वीतरागी हुए हैं। कहाँ तो मेघ, कहाँ तुम्हारा सन्देश और कहाँ उनकी वीतरागी प्रवृत्ति? इन सबका तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। अन्त में राजीमती शोक को त्याग नेमिकुमार के पास जाकर साध्वी बन जाती है।

कालिदास के मेघदूत के अनुकरण पर लिखे जाने पर भी यह काव्य कालिदास के मेघदूत से सर्वथा भिन्न ही है। जैन-परम्परा में उपलब्ध अन्य दूत-काव्यों की भाँति इसमें समस्या-पूति नहीं की गई है। पर हाँ ! छन्द अवश्य मन्दाक्रान्ता अपनाया गया है। काव्य की नायिका राजीमती

अपने पति के पास मेघ को दूत बनाकर भेजती है। इसीलिए इस काव्य का नाम मेघदूत है। जैनों के २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ के जीवन-चरित पर आधारित होने तथा एक जैन विद्वान् की कृति होने के कारण इसे 'जैनमेघदूत' कहा गया है, लेकिन भाषा-शैली, विचार-तारतम्य और रस की दृष्टि से यह काव्य एक स्वतन्त्र रचना है।

कवि का भाषा पर पर्याप्त अधिकार है, पर जान-बूझकर काव्य को जटिल बनाया गया है। काव्य-प्रकाश में जो यह कहा गया है—

श्रुतिमात्रेण शब्दानां येनार्थप्रत्ययो भवेत्।

साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणः स्मृतः ॥

इस रूप से निर्दिष्ट प्रसाद-गुण तो इस काव्य में बहुत ही कम है।

जिस प्रकार कलिदास के मेघदूत में मेघ को दूत के रूप में चुना गया है उसी प्रकार इस दूत-काव्य में भी मेघ को ही दूत के रूप में चुना गया है। उसी प्रकार मेघ से सर्वप्रथम कुशल-वार्ता पूछी गयी है। उसके चरित्र, कुल-वंश की प्रशंसा की गई है और उसका स्वागत भी किया गया है। बाद में नेमिनाथ का परिचय भी दिया गया है। परन्तु मेघदूत के समान मार्ग-वर्णन इस जैनमेघदूत में नहीं मिलता है। इस प्रकार भौगोलिक ज्ञान की कोई भी जानकारी इस काव्य में नहीं देखने को मिलती है।

काव्य का प्रारम्भ ही विप्रलम्भ-शृंगार से होता है। अपने प्रिय के वियोग में राजीमती अत्यन्त व्याकुल है, उसी समय आकाश में छाये मेघों को देख सहसा उसका हृदय और भी विचलित हो उठता है, उसके हृदय से प्रिय का वियोग फूट पड़ता है—

हेतोः कस्मादहिरिव तदासञ्जिनीमप्यमुञ्च-

न्मा निर्मोकत्वचमिव लघुं ज्ञोऽप्यसौ तन्न जाते ।

यद्वा देवे दधति विमुखीभावमाप्तोऽप्यमित्रे—

त्तर्णस्य स्मात्किमु नियमने मातृजङ्घा न कीलः ॥१७॥

इस काव्य के द्वितीय सर्ग में कवि ने नेमिकुमार की श्रीकृष्ण की स्त्रियों के साथ की गई क्रीड़ाओं का सुन्दर चित्रण किया है—

अन्या लोकोत्तर ! तनुमता रागपाशेन बद्धो

मोक्षं गासे कथमिति ? मितं सस्मितं भाषमाणा ।

व्यक्तं रक्तोत्पलविरचितेनैव दाम्ना कुटीरे

काञ्चीव्याजात्प्रकृतिरिव तं चेतनेशं बबन्ध ॥२१२॥

घन्या मन्ये जलधर ! हरेरेव भार्याः स याभि—  
 र्दृष्टो दृग्भिः परिजनमनश्छन्दवृत्त्यापि खेलन् ।  
 कस्माज्जज्ञे पुनरियमहं मंदभाग्या स्त्रिवेली  
 यां तस्यैवं स्मरणमपि हा ! मूर्च्छनाप्या लभे न ॥२२४॥

नेमिनाथ के चरित्र वर्णन के बाद अन्त में राजीमती फिर अपनी  
 दीनावस्था का वर्णन करती है—

प्राग्निर्दग्धं दिनदिननवतीव्रवर्षेजशुष्म—  
 प्रख्यासौख्ये जगदिनजगज्जीवनापानपीनम् ।  
 सम्प्रत्युष्णोच्छ्वसितवशतो वाष्पधूमायमानं  
 स्फोटं स्फोटं हृदयमिदकं चूर्णखण्डीयतेस्म ॥४७॥

राजीमती समस्त विरहियों के शोक को सावसान मानती है। वह  
 कहती है कि रात्रि में चकवा-चकवी का वियोग हो जाता है, पर  
 प्रातःकाल पुनः संयोग हो जाता है, चकोरी का चन्द्र से दिन में वियोग  
 होता है। पर रात्रि होते ही संयोग हो जाता है, पर मेरा यह वियोग  
 अन्तहीन है—

कोकी शोकाद्वसतिविगमे वासरान्ते चकोरी,  
 शीतोष्णर्तुप्रशमसमये मुच्यते नीलकण्ठी ।  
 त्यक्ता पत्या तरुणिमभरेकञ्चुकश्चक्रिणेनाऽ-  
 मत्रं वारां हृद इव शुचामाभवं त्वाभवं भोः ॥४१॥

राजीमती नेमिकुमार के प्रति अपना सन्देश भेजती हुई कहती है—

यां क्षौरयोमिव नवरसां नाथ वीवाहकाले,  
 सारस्नेहामपि सुशिशिरां नाग्रहीः पाणिनापि ।  
 सा किं कामानलत्पनतोऽतीव वाष्पायमाणा-  
 नन्योच्छ्रष्टा नवरुचिभृताप्यद्य न स्वीक्रियेत् ॥४१७॥

राजीमती अनेकों तर्क प्रस्तुत करती है नेमिकुमार के सामने अपने  
 सन्देश में—

प्रागुद्वाहं स्वजनजनितेनाग्रहेणानुमेने,  
 संचेरेऽन्तर्गुरुपरिजनं पीलुना चोपयन्तुम् ।  
 द्वारात्प्रत्यावृतदथ भवान् कूकदस्यापि शावो  
 गध्यैतैवं गुणगणनिधे ! नो चतुर्हयिणोऽपि ॥४१८॥

यदि आपको छोड़ना ही था तो प्रथम मुझे स्वीकार ही क्यों किया ?  
 आप पशु-पक्षियों पर दया करते हैं परन्तु मुझ भक्त को सन्तुष्ट नहीं करते ।

हे नाथ ! आपने सम्बन्धियों के आग्रह से विवाह करना तो स्वीकार कर लिया, पर आप अपने स्वसुर के द्वार पर आने के पहले ही लौट गये । इस प्रकार तो चार वर्ष के बच्चे तक को भी धोखा नहीं दिया जाता है ।

एतत्सर्वं गुरुजनमनोमोदनार्थं यदि त्वं,  
तत्त्वं विन्दुः स्वयमकुटिलं स्वीचकर्थं प्रकामम् ।  
इत्थङ्कारं कतिचन सभा मन्मुदे दारकर्म,  
स्वीकृत्यैतत् किमुपजरसं नो तपस्तप्यसे स्म ॥४१२४॥

हे नाथ ! यदि बाल-क्रीड़ाएँ तथा अन्य पराक्रम लीलाएँ आपने केवल अपने गुरुजनों के मन को प्रसन्न करने के लिए ही कीं, तो मेरी प्रसन्नता के लिए आप विवाह क्यों नहीं करते । जब वृद्धावस्था आ जाये तब आप तपस्या करने चले जाइयेगा ।

वह शोक की अन्तिम अभिव्यञ्जना करती हुई कहती है—

श्रीमानर्हन्नितरजनवन्मन्मथस्य व्यथाभिः,  
किं बाध्येतेत्यखिलजनतां मा रिरेकाम कामम् !  
ध्यात्वैवं चेत्तपसि रमसे तत्प्रतिज्ञातलोपे,  
कस्तामत्र त्रिभुवनगुरो ! रेकमाणां निषेद्धा ? ॥४१२०॥

हे नाथ ! यह कामदेव अपने विषम बाणों से मुझे सता रहा है । अपने तिरस्कार की ज्वाला मुझे व्याकुल कर रही है अपनी इस अचेता-वस्था में यदि मैं किसी खाई में कूद पड़ूँ तो क्या होगा ? हे नाथ ! मुझमें किसी दोष का आरोप करके यदि छोड़ा होता तो उचित भी था । परन्तु इस तरह तो आप पर एक निर्दोष स्त्री के परित्याग का कलंक लगेगा । बिना किसी बहाने यमराज भी तो प्राणियों को नहीं मारता ।

इस प्रकार काव्य में विरह-भावना की अभिव्यञ्जना हुई है । विचार-तारतम्य और रस की दृष्टि से काव्य बड़ी उच्च कोटि का है । कवि ने पद-पद पर श्लिष्ट वाक्य रचना और अलंकारों की भरमार से काव्य को दुरुह अवश्य बना दिया है । अलंकारों के बाहुल्य से भाषा और भाव दबे से हैं । कवि ने—

वानस्पत्याः कलकिशलयैः कौशिकाभिः प्रवालैः ॥ २।२ ॥

पद्य के पूर्वार्द्ध में अपह्लाति और रूपक एवं उत्तरार्द्ध में उत्प्रेक्षा और श्लेष का सुन्दर समायोजन किया है । प्रसाद गुण की रचना में कमी है ।

काव्यकार ने अपने व्याकरण के ज्ञान का परिचय देने की पद-पद पर कोशिश की है। पदलालित्य और प्रसाद गुण की दृष्टि से विक्रम-कवि का नेमिदूत एवं चरित्रसुन्दरगणि का शीलदूत कहीं अधिक उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। फिर भी जैन-साहित्य में यह रचना अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है।

इस प्रकार जैन कवियों ने अपने सन्देश-परक दूत-काव्यों में निश्चित रूप से पाठकों के लिए कुछ विशिष्ट सन्देश दिया है। शृंगार-परक सन्देश काव्यों का शान्त-रस में पर्यवसान कर तथा श्रीनेमिनाथ और स्थूलभद्र जैसे महापुरुषों को अपने काव्यों का नायक बनाकर इन कवियों ने पाठकों के समक्ष शान्त-रस का आदर्श उपस्थित किया है। यह शान्त-रस ही है जो तृष्णाओं का क्षय करता है, मनुष्यों को मानव-धर्म की स्मृति कराता है और मानव हृदय में इस 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की भावना उत्पन्न करता है। संसार में विश्व-प्रेम की भावना ऐसे ही साहित्य से फैलती है। इस प्रकार जैन-मनीषियों के सन्देश-काव्यों में त्याग-प्रधान जीवन का अतिगूढ सन्देश छिपा हुआ है। ●

# जैनाचार्यों द्वारा आयुर्वेद साहित्य निर्माण में योगदान

आचार्य राजकुमार जैन

आयु ही जीवन है, आयु का वेद ( ज्ञान ) ही आयुर्वेद है, अतः आयुर्वेद एक सम्पूर्ण जीवनविज्ञान है, आयुर्वेद का मूल प्रयोजन 'स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम् आतुरस्य च विकारप्रशमनम्' है, अतः स्वस्थ और व्याधित दोनों के लिए यह उपादेय है, यद्यपि शारीरिक स्वास्थ्य का रक्षण एवं विकारोपशमन आयुर्वेद का इहलौकिक एवं भौतिक उद्देश्य है, तथापि पारलौकिक निःश्रेयस, आत्ममुक्ति और आध्यात्मिकता से अनुप्राणित जीवन की यथार्थता के लिए सतत् प्रयत्न करना भी इसके मूल में निहित है। अतः भौतिकता या भौतिकवाद की परिधि से निकलकर आयुर्वेदशास्त्र आध्यात्मिकता की श्रेणी में परिगणित है। इस शास्त्र में मानवमात्र के प्रति कल्याणकारी दृष्टिकोण होने से इसे तथा इससे सम्बन्धित चिकित्साकार्य को आचार्यों ने 'पुण्यतम' कहा है, यथा, 'चिकित्सतात् पुण्यतमं न किञ्चित्'।

भारत में आयुर्वेद की परम्परा अनादिकाल से प्रवाहित है, वैदिक वाङ्मय एवं आयुर्वेद के विभिन्न शास्त्रों में प्राप्त उद्धरणों के अनुसार आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपांग माना गया है, अतः कुछ विद्वान् इसे पंचम वेद के रूप में मानते हैं, अथर्ववेद में आयुर्वेद के पर्याप्त उद्धरण एवं बीज उपलब्ध होने से अथर्ववेद से तो इसका निकटतम सम्बन्ध है ही, अन्य वेद तथा वैदिक साहित्य में भी पर्याप्त रूप से आयुर्वेद के बीज उपलब्ध होने से सम्पूर्ण वैदिक साहित्य से आयुर्वेद का निकटतम सम्बन्ध है। वैदिक वाङ्मय के अनुसार ऐतिहासिक दृष्टि से आयुर्वेद की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, आयुर्वेद शास्त्रों के वचनों के अनुसार आयुर्वेद की परम्परा ब्रह्मा से प्रारम्भ होती है, सर्वप्रथम ब्रह्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में आयुर्वेद की अभिव्यक्ति की, ब्रह्मा से उपदेश के रूप में प्रथमतः दक्ष प्रजापति ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया और उस ज्ञान को उन्होंने उपदेश के रूप में अश्विनीकुमारों को दिया। अश्विनीकुमारों से देवराज इन्द्र ने आयुर्वेद का उपदेश ग्रहण किया, इन्द्र से आयुर्वेद का उपदेश ग्रहण कर



पृथ्वी पर उसका अवतरण करने का श्रेय महर्षि भरद्वाज, काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि और महर्षि कश्यप की है। तत्पश्चात् पुनर्वसु आत्रेय, महर्षि अग्निवेष, महर्षि सुश्रुत आदि विभिन्न शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा अधीत होकर आयुर्वेद इस समग्र भूमंडल पर प्रसारित हुआ। वर्तमान में चरकसंहिता, काश्यपसंहिता, अष्टांगहृदय आदि आयुर्वेद के मुख्य और आधारभूत ग्रंथ माने जाते हैं। इस प्रकार यह आयुर्वेद की एक संक्षिप्त वैदिक परम्परा है।

बहुत ही कम लोग इस तथ्य से अवगत हैं कि वैदिक साहित्य की भांति जैनधर्म और जैन साहित्य से भी आयुर्वेद का निकटतम सम्बन्ध है। जैनधर्म में आयुर्वेद का क्या महत्त्व है और उसकी उपयोगिता कितनी है? इसका अनुमान इस तथ्य से सहज ही लगाया जा सकता है कि जैन वाङ्मय में आयुर्वेद का समावेश द्वादशांग के अन्तर्गत किया गया है। यही कारण है कि जैन वाङ्मय में अन्य शास्त्रों या विषयों की भांति आयुर्वेदशास्त्र या वैद्यक विषय की प्रामाणिकता भी प्रतिपादित है। जैनागम में वैद्यक ( आयुर्वेद ) विषय को भी आगम के अंग के रूप में स्वीकार किए जाने के कारण ही अनेक जैनाचार्यों ने आयुर्वेद के ग्रंथों की रचना की। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि जैनागम में केवल उसी शास्त्र, विषय या आगम की प्रामाणिकता प्रतिपादित है जो सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट है। सर्वज्ञ कथन के अतिरिक्त अन्य किसी विषय या स्वरुचि विरचित ग्रंथ अथवा विषय की प्रामाणिकता न होने से जैन वाङ्मय में उसका कोई महत्त्व उपयोगिता या स्थान नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञपरमेष्ठी के मुख से जो दिव्यध्वनि खिरती (निकलती) है उसे श्रुतज्ञान के धारक गणधर परमेष्ठी ग्रहण करते हैं। गणधर द्वारा गृहीत वह दिव्यध्वनि जो ज्ञानरूप होती है बारह भेदों में विभक्त की गई, जिसे आचारांग आदि के रूप में उन्होंने निरूपित किया, गणधर द्वारा निरूपित व ज्ञानरूप आगम के बारह भेदों को द्वादशांग की संज्ञा दी गई है। इन द्वादशांगों में प्रथम आचारांग है और बारहवाँ दृष्टिवाद नाम का अंश है। उस बारहवें दृष्टिवादांग के पाँच भेद हैं। उन पाँच भेदों में से एक भेद पूर्व या पूर्वगत है। इस 'पूर्व भेद' के भी पुनः चौदह भेद हैं। पूर्व के इन चौदह भेदों में 'प्राणावाय' नाम का एक भेद है। इसी प्राणावाय नामक अंग में अष्टांग आयुर्वेद का कथन किया गया है, जैनाचार्यों के

अनुसार आयुर्वेद का मूल प्राणावाय पूर्ण यही है। इसी के अनुसार अथवा इसी के आधार पर परवर्ती आचार्यों ने वैद्यकशास्त्र का निर्माण अथवा आयुर्वेद विषय का प्रतिपादन किया है। जैनागम के अन्तर्गत प्रतिपादित प्राणावाय पूर्ण का निम्न लक्षण बतलाया गया है—कायचिकित्साद्यष्टांग आयुर्वेदः भूतकर्मजांगुलिप्रक्रमः प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत्प्राणावायम्'।

अर्थात् जिस शास्त्र में काय, तद्गत दोष तथा चिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया हो पृथ्वी आदि महाभूतों की क्रिया, विषैले जानवर और उनके विष की चिकित्सा आदि तथा प्राणापान का विभाग जिसमें किया गया हो उसे 'प्राणावाय' पूर्ण शास्त्र कहते हैं।

द्वादशांग के अन्तर्गत निरूपित प्राणावाय पूर्ण नामक अंग मूलतः अर्धमागधी भाषा में लिपिबद्ध है, इस प्राणावाय पूर्ण के आधार पर ही अन्यान्य जैनाचार्यों ने विभिन्न वैद्यक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। श्री उग्रादित्याचार्य ने भी प्राणावाय पूर्ण के आधार पर कल्याणकारक नाम के वैद्यक ग्रन्थ की रचना की है। इस तथ्य का उल्लेख आचार्य श्री ने स्थान-स्थान पर किया है, इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है—

सर्वार्धाधिकमागधी विलसभद्भाषापरिशेषोज्वल  
प्राणावायमहागमादवितथं संगृह्य संक्षेपतः।  
उग्रादित्यगुरुर्गुरुर्गुणैरुद्भासिसौख्यास्पदम्।  
शास्त्रं संस्कृतभाषया रचितवानित्येष भेदस्तयोः ॥

कल्याणकारक, अ० २५ श्लो०

अर्थात् सम्पूर्ण अर्थ को प्रतिपादित करनेवाली सर्वार्ध मागधी भाषा में जो अत्यन्त सुन्दर प्राणावाय नामक महागम महाशास्त्र है उसे यथावत् संक्षेप रूप से संग्रह कर उग्रादित्य गुरु ने उत्तमोत्तम गुणों से युक्त सुख के स्थानभूत इस शास्त्र की संस्कृत भाषा में रचना की। इन दोनों—प्राणावाय अंग और कल्याणकारक में यही अन्तर है।

इस प्रकार जैनागम में आयुर्वेद या वैद्यकशास्त्र की प्रामाणिकता प्रतिपादित है, और आयुर्वेद जिसे जैनागम में प्राणावाय की संज्ञा दी गई है, द्वादशांग का ही एक अंग है। जैन वाङ्मय में द्वादशांग की

प्रामाणिकता सर्वोपरि है। अतः तदन्तर्गत प्रतिपादित प्राणावाय की प्रामाणिकता भी स्वतः सिद्ध है, इस प्रकार जिस अष्टांग परिपूर्ण वैद्यक-शास्त्र को इतर आचार्यों, महर्षियों ने आयुर्वेद की संज्ञा दी है उसे जैनाचार्यों ने प्राणावाय की संज्ञा दी है।

संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि में जैनाचार्यों ने अपना जो महत्त्वपूर्ण योगदान किया है वह सुविदित है। संस्कृत साहित्य का ऐसा कोई विषय या क्षेत्र नहीं बचा है जिस पर जैनाचार्यों ने अपनी लेखनी न चलाई हो। इसका मुख्य कारण यह है कि जैनाचार्य केवल एक विषय के ही अधिकारी नहीं थे, अपितु वे प्रत्येक विषय में निष्णात थे, अतः उनके विषय में यह कहना सम्भव नहीं था कि वे किस विषय के अधिकृत विद्वान् हैं अथवा उनका अधिकृत विषय कौन-सा है? जैनाचार्यों ने जिस प्रकार काव्य, अलंकार, कोष, छंद, न्याय, दर्शन व धर्मशास्त्रों का निर्माण किया उसी प्रकार ज्योतिष और वैद्यक विषय भी उनकी लेखनी से अछूते नहीं रहे। उपलब्ध अनेक प्रमाणों से अब यह स्पष्ट हो चुका है कि जैनाचार्यों ने प्रचुर मात्रा में स्वतन्त्र रूप से वैद्यक ग्रन्थों का निर्माण कर आयुर्वेद साहित्य की श्रीवृद्धि में अपना अभूतपूर्व योगदान किया है। इस सम्बन्ध में विभिन्न स्रोतों से एक लम्बी सूची तैयार की गई है जिससे जैनाचार्यों द्वारा लिखित वैद्यक सम्बन्धी अनेक कृतियों का संकेत मिलता है। इनमें से कुछ कृतियाँ मूल रूप से प्राकृत भाषा में लिपिबद्ध हैं और कुछ हिन्दी में पद्यमय रूप में। कन्नड़ भाषा में भी अनेक जैन विद्वानों ने आयुर्वेद के ग्रन्थों का प्रणयन कर जैनवाङ्मय को परिपूर्ण किया है।

जिन जैनाचार्यों ने धर्म-दर्शन-न्याय-काव्य-अलंकार आदि विषय को अधिकृत कर विभिन्न ग्रन्थों का प्रणयन किया है उन्हीं आचार्यों ने वैद्यक शास्त्र का निर्माण कर अपनी अलौकिक प्रतिभा का परिचय दिया है। प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद स्वामी, परमपूज्य स्वामी समन्तभद्र, आचार्य जिनसेन गुरु वीरसेन, गुणसागर श्री गुणभद्र, महर्षि सोमदेव, सिद्धवर्णी रत्नाकर तथा महापंडित आशाधर आदि जैनाचार्यों की विभिन्न कृतियों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो देखकर महान् आश्चर्य होता है कि किस प्रकार उन्होंने अनेक विषयों पर अपनी अधिकारपूर्ण लेखनी चलाकर अपनी अद्भुत विषयप्रवणता और विलक्षण बुद्धि वैभव का

परिचय दिया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उन्हें उन सभी विषयों में प्रौढ़ प्रभुत्व प्राप्त था, उनका पांडित्य सर्वदिगंतव्यापी था और उनका ज्ञानरवि अपनी प्रखर रश्मियों से सम्पूर्ण साहित्यजगत् को आलोकित कर रहा था।

आयुर्वेद साहित्य के प्रति जैनाचार्यों द्वारा की गई सेवा भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी अन्य साहित्य के प्रति। किन्तु दुःख इस बात का है कि जैनाचार्यों ने जितने वैद्यक साहित्य का निर्माण किया है वह अभी तक प्रकाशित नहीं किया जा सका है। यही कारण है कि वर्तमान में उनके द्वारा लिखित अनेक वैद्यक ग्रन्थ या लुप्त हो गए हैं अथवा खंडित रूप में होने से अपूर्ण हैं। कालकवलित हुए अनेक वैद्यक ग्रन्थों का उल्लेख विभिन्न आचार्यों की वर्तमान में उपलब्ध अन्यान्य कृतियों में मिलता है। विभिन्न जैन भंडारों या जैन मन्दिरों में खोजने पर अनेक वैद्यक ग्रन्थों के प्राप्त होने की सम्भावना है। अतः विद्वानों द्वारा इस दिशा में प्रयत्न किया जाना अपेक्षित है। सम्भव है इन वैद्यक ग्रंथों के प्रकाश में आने से आयुर्वेद के उन महत्त्वपूर्ण तथ्यों और सिद्धान्तों का प्रकाशन हो सके जो आयुर्वेद के प्रचुर साहित्य के कालकवलित हो जाने से विलुप्त हो गए हैं। जैनाचार्यों द्वारा लिखित वैद्यक ग्रंथ के प्रकाशन से आयुर्वेद के विलुप्त साहित्य और इतिहास पर भी प्रकाश पड़ने की संभावना है।

जैनाचार्यों द्वारा लिखित वैद्यक ग्रन्थों में से अब तक जो प्रकाशित हुए हैं उनमें से श्री उग्रत्याचार्य द्वारा प्रणीत कल्याणकारक और श्री पूज्य-पादस्वामी द्वारा विरचित वैद्यसार ये दो ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से प्रथम कल्याणकारक का प्रकाशन १ फरवरी १९४० में श्री सेठ गोविन्द जी रावजी दोशी, सोलापुर द्वारा किया गया था। इसका हिन्दी अनुवाद और सम्पादन श्री पं० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, सोलापुर ने किया है। द्वितीय वैद्यसार नामक ग्रन्थ जैन सिद्धान्त भवन, आरा से प्रकाशित हुआ है। इसका सम्पादन और हिन्दी अनुवाद आयुर्वेदाचार्य पं० सत्यधर जैन, काव्यतीर्थ ने किया है, किन्तु यह ग्रन्थ वस्तुतः श्री पूज्य-पाद द्वारा विरचित है इसमें विवाद है यद्यपि ग्रन्थ में जो विभिन्न चिकित्सायोग वर्णित हैं उनमें से अधिकांश में 'पूज्यपादैः कथितं' 'पूज्यपादोदितं' आदि का उल्लेख मिलता है, किन्तु ऐसा लगता है कि ये

पाठ पूज्यपाद के मूल ग्रन्थ से संग्रहीत हैं। प्रस्तुत ग्रंथ श्री पूज्यपाद की कृति नहीं है। अतः यह अभी तक अज्ञात है कि इस ग्रन्थ का रचयिता या संग्रहकर्ता कौन है ?

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैनाचार्यों द्वारा लिखित आयुर्वेद के ग्रंथों की संख्या प्रचुर है, किंतु उन ग्रंथों की भी वही स्थिति है जो जैनाचार्यों द्वारा लिखित ज्योतिष के ग्रंथों की है, जैन समाज ने तथा अन्यान्य जैन संस्थाओं ने जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत धर्म-दर्शन-न्याय-साहित्य-काव्य-अलंकार आदि के ग्रंथों के प्रकाशन की तो व्यवस्था की है, उसमें रुचि दिखलाई और उसके लिए पर्याप्त राशि भी व्यय की है, किंतु आयुर्वेद और ज्योतिष के ग्रंथों के प्रति कोई लक्ष्य नहीं दिया। यही कारण है कि इस साहित्य की प्रचुरता होते हुए भी यह सम्पूर्ण साहित्य अभी तक अंधकारावृत है। अब तो स्थिति यहाँ तक हो गई कि जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत जिन ग्रंथों की रचना का पता चलता है उन ग्रंथों का अस्तित्व ही हमारे सामने नहीं है। अनेक स्थानों पर स्वामी समन्तभद्र के वैद्यक ग्रंथ का उल्लेख मिलता है, किंतु वह ग्रंथ अभी तक अप्राप्य है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रंथ योगरत्नाकर में श्री पूज्यपाद के नाम से अनेक योग उद्धृत हैं तथा 'श्री पूज्यपादोदित' आदि कथनों का उद्धरण देते हुए अनेक अजैन विद्वान् वैद्यकी से अपना योगक्षेम चलाते हुए देखे गए हैं। किंतु अत्यधिक प्रयत्न किए जाने पर भी श्री पूज्यपाद द्वारा विरचित ग्रंथ प्राप्त नहीं हो सका। इसी प्रकार और भी अनेक ग्रन्थों का प्रकरणांतर से उल्लेख तो मिलता है, किंतु ढूँढने पर उसकी उपलब्धि नहीं होती।

जैनाचार्यों के आयुर्वेद सम्बंधी ग्रंथों में जगत् सुन्दरी प्रयोगमाला नामक ग्रंथ सम्भवतः सबसे अधिक प्राचीन है, योगचिंतामणि, वैद्यमनोत्सव, मेघविनोद, रामविनोद, गंगयतिनिदान आदि ग्रंथ भी प्रकाशित हुए हैं, ये ग्रंथ श्वेतांबर आचार्यों द्वारा विरचित हैं। गत शताब्दी के प्रसिद्ध चिकित्सक जैन यति रामलाल जी का भी एक बड़ा ग्रंथ प्रकाशित हुआ है इस प्रकार ये कुछ ही ग्रंथ अभी प्रकाशित हुए हैं, इसके विपरीत अप्रकाशित जैन वैद्यक ग्रंथों की संख्या अधिक है। मुझे श्री अगरचंद जी नाहटा से जैनाचार्यों द्वारा लिखित आयुर्वेद संबंधी ग्रंथों की जानकारी प्राप्त हुई है जो निम्न प्रकार है—

## श्वेताम्बर जैनाचार्यों द्वारा रचित वैद्यक ग्रन्थ

ग्रन्थ नाम	ग्रंथकार	भाषा	रचना काल
१. योगचिंतामणि	मूल हर्षकीर्ति सूरि		
	भाषा टीका नरसिंह खरतर	संस्कृत	सं० १६६२
२. वैद्यकसारोद्धार	हर्षकीर्तिसूरि	संस्कृत	सं० १६६२
३. ज्वरपराजय	जयरत्न	संस्कृत	-----
४. वैद्यवल्लभ	हस्तिरुचि	संस्कृत	-----
५. वैद्यकसाररत्न चौपाई	लवषमी कुशल	गुजराती	सं० १६६४ फा० सु
६. सुबोधनी वैद्यक	लक्ष्मीचंद्र	हिंदी	-----
७. लघन पथ्योपचार	दीपचंद्र	संस्कृत	सं० १७९२
८. बाल चिकित्सा निदान	-----	-----	-----
९. योगरत्नाकर चौपाई	नयन शेखर	गुजराती	-----
१०. डम्भ क्रिया	धर्मसिंह धर्मवर्द्धन	हिंदी	प्र० सचित्र आयुर्वेद
११. पथ्यापथ्य	महो० रामलालजी	-----	वीर सं० २४३९
१२. रामनिदान टवा सहित	उपर्युक्त	-----	-----
१३. कोकशास्त्र चौपाई	नर्बुदाचार्य कामशास्त्र में		
	प्रासांगिक चिकित्सा प्रकाशित		
१४. रसामृत	माणिक्यदेव		

## जैनेतर वैद्यक ग्रन्थों पर जैनाचार्यों द्वारा कृत टीकाएँ

१. योगरत्नमालावृत्ति	गुणाकर श्वे०	सं० १२९६
२. अष्टांगहृदय टीका	पं० आशाधर दि०	
३. पथ्यापथ्यम टवा	चैनमुख मुनि	सं० १८३५
४. माधवनिदान टवा	ज्ञानमेरु	-----
५. सम्निपातकलिका	हेमनिधान	सं० १७३३
६. योगशतक टीका	मूल वररुचि संप्रतभद्र (समन्तभद्र)	सं० १७३१

## श्वेताम्बर हिन्दी वैद्यक ग्रन्थ

१. वैद्यमनोत्सव	नयनसूत्र	सं० १६४९ सीहानन्द नगर
२. वैद्यविलास तिव्र सहाबा	मलूकचंद्र गाथा	५१८
३. रामविनोद	रामचंद्र	सं० १७२० शकरी नगर
४. वैद्यविनोद	रामचंद्र	सं० १७२६ मराठ
५. कालज्ञान	लक्ष्मीवल्लभ	सं० १७४१
६. कविविनोद	मानकवि	सं० १७५३ लाहौर
७. कविप्रमोद	मानकवि	सं० १७४६ कार्तिक सु० २
८. रसमंजरी	समरथ	सं० १७६४
९. मेघविनोद	मेघमुनि	सं० १८३५ फगवाड़ा
१०. मेघविलास	मेघमुनि	
११. लोलिम्बर राज भाषा ( वैद्य जीवन )	यति गंगाराम	सं० १८७२ अमृतसर
१२. सूरजप्रकाश भाव दीपक	यति गंगाराम	सं० १८८३ अमृतसर
११. भावनिदान	यति गंगाराम	सं० १८८८ अमृतसर

## दिगम्बर जैन वैद्यक ग्रन्थ

१. वैद्यसार	पूज्यपाद	
२. निदान मुक्तावलि	पूज्यपाद	
३. मदन कामरत	पूज्यपाद	
४. कल्याणकारक	उग्रदित्याचार्य	
५. सुकरयोगरत्नावलि	पाश्र्वदेव	
६. बालगृहचिकित्सा	देवेन्द्रमुनि	
७. वैद्य निघण्टु ( अकारादि निघण्टु )	अमृतमुनि	( कन्नड लिपि )
८. वैद्यामृत	श्रीधरदेव	
९. खगेन्द्रमणिदर्पण	मंगराज	( कन्नड लिपि )
१०. ह्यशास्त्र	अभिनवचंद्र	
११. कल्याणकारक	सोमनाथ	
१२. गोवैद्य	कीर्तिवर्मा	

इनमें से कुछ ग्रंथ सम्भवतः श्री अजरचंदजी नाहटा के व्यक्तिगत संग्रह में उपलब्ध हैं। मैं इस दिशा में सतत प्रयत्नशील हूँ तथा खोज करने पर और भी अनेक आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थों की जानकारी प्राप्त हुई है। किंतु इस दिशा में सतत अनुसंधान और पर्याप्त प्रयत्न अपेक्षित है। उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य तो स्पष्ट है कि जैनाचार्यों ने भी अन्य आचार्यों की ही भांति आयुर्वेद साहित्यसृजन में अपना अपूर्व योगदान दिया है। अब आवश्यकता इस बात की है कि अनुसन्धान के द्वारा उस विलुप्तविशाल साहित्य को प्रकाश में लाकर आयुर्वेद साहित्य की श्रीवृद्धि की जाय और आयुर्वेद की दृष्टि से उसका उचित मूल्यांकन किया जाय। इससे आयुर्वेद जगत् में निश्चय ही जैनाचार्यों को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त होगा।





# हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1. Political History of Northern India from Jaina Sources —Dr. G. C. Choudhary 60.00
2. Studies in Hemacandra's Desinamamala —Dr. Harivallabh C. Bhayani 10.00
3. A Cultural Study of the Nisitha Curni — Dr. (Mrs.) Madhu Sen 50.00
4. An Early History of Orissa —Dr. Amar Chand 40.00
५. जैन आचार —डा० मोहनलाल मेहता २०.००
६. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १ —पं० बेचरदास दोशी ३५.००
७. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग २ —डा० जगदीशचन्द्र जैन व डा० मोहनलाल मेहता ३५.००
८. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३ —डा० मोहनलाल मेहता ३५.००  
( उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा १५०० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत )
९. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ४ —डा० मोहनलाल मेहता व प्रो० हीरालाल कापड़िया ३५.००
१०. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५ —पं० अंबालाल शाह ३५.००
११. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६ —डा० गुलाबचन्द्र चौधरी ४५.००  
( उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा १००० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत )
१२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ७ —पं० के० भुजबली शास्त्री व श्री टी० पी० मीनाक्षी सुन्दरम्  
पिःलै व डा० विद्याधर जोहरापुरकर ३५.००
१३. बौद्ध और जैन आगमों में नारी-जीवन—डा० कोमलचन्द्र जैन ३०.००
१४. यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन—डा० गोकुलचन्द्र जैन ३०.००  
( उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा ५०० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत )
१५. उत्तराध्ययन-सूत्र : एक परिशीलन—डा० सुदर्शनलाल जैन ४०.००  
( उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा ५०० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत )
१६. जैन-धर्म में अहिंसा —डा० बशिष्ठनारायण सिन्हा ३०.००
१७. अपभ्रंश कथाकाव्य एवं हिंदी प्रेमाख्यानक—डा० प्रेमचन्द्र जैन ३०.००  
( उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा १००० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत )
१८. जैन धर्म-दर्शन —डा० मोहनलाल मेहता ३०.००  
( उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा १००० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत )
१९. तत्त्वार्थसूत्र ( विवेचनसहित ) —पं० सुखलाल संघवी ३०.००
२०. जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन —डा० अहंदास बंडोवा दिगे ३०.००

## हमारे लघु प्रकाशन

1. World Problems & Jaina Ethics—Dr. Beni Prasad	1-50
2. Mahavira — Dr. Amar Chand	1-50
3. Jainism in Indian History—Dr. Bool Chand	1-50
4. Progress of Prakrit and Jaina Studies — Dr. B. J. Sandesara	2-00
5. Jaina Monastic Jurisprudence—Dr. S. B. Deo	8-00
6. Literary Evaluation of Paumacariyam —Dr. K. R. Chandra	8-00
7. जैन दार्शनिक साहित्य के विकास की रूपरेखा —पं० दलमुख मालवणिया	१-५०
8. जैन संस्कृति का हृदय—पं० सुखलालजी	१-५०
9. अन्तर्निरीक्षण—पं० सुखलालजी	१-५०
10. जैन साहित्य की प्रगति—पं० सुखलालजी	२-००
11. भगवान् महावीर—पं० दलमुख मालवणिया	१-५०
12. आत्ममीमांसा—पं० दलमुख मालवणिया	१०-००
13. जैन अध्ययन की प्रगति—पं० दलमुख मालवणिया	१-५०
14. जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार—श्री फतहचन्द बेलानी	४-००
15. भारत के प्राचीन जैन तीर्थ—डा० जगदीशचन्द्र जैन	४-००
16. जीवन में स्वाद्धाद—श्री चन्द्रशंकर शुक्ल	२-००
17. हेमचन्द्राचार्य का शिष्यमण्डल—डा० भोगीलाल सांडेसरा	१-५०
18. मगध—श्री वैजनाथ सिंह 'विनोद'	२-००
19. सुवर्णभूमि में कालकाचार्य—डा० उमाकान्त शाह	२-००
20. स्वाध्याय—महात्मा भगवानदीन	५-००
21. महामात्य वस्तुपाल का साहित्यमण्डल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन—डा० भोगीलाल सांडेसरा	१०-००
22. प्राकृत भाषा—डा० प्रबोध बेचरदास पंडित	४-००
23. अहिंसा की सम्भावनाएँ—डा० सागरमल जैन	२-००
24. जैन साहित्य और शिल्प में बाहुबलि—डा० सागरमल जैन	२-००
25. जैन साहित्य के विविध आयाम—सम्पा० डा० सागरमल जैन	५-००

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

आई० टी० आई० रोड, वाराणसी-५